वैदिक तथा वेदोत्तरकालीन

# प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र

बी० बी० सिंह

टी० एस० पपोला

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित
●

●
प्रथम संस्करण : १९८२
●
लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

मूल्य : २५.००

# प्रस्तावना

कई वर्ष पूर्व जब डॉ० वी० बी० सिंह और मै लखनऊ विश्वविद्यालय में एम० ए० अर्थशास्त्र की कक्षाओं मे "आर्थिक विचारो का इतिहास" विषय का अध्यापन करते थे, हमें यह विचार आया कि इस विषय के अन्तर्गत अधिकांश विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य विचारों का तो पर्याप्त विस्तार में अध्ययन होता है, भारतीय आर्थिक विचारों का हमारी विषयवस्तु में समावेश भी नही हो पाया है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है विद्यार्थियों के लिये उपयोगी साहित्य का अभाव। इस कमी को पूरा करने के लिए हम लोगों ने भारतीय आर्थिक बिचारो के इतिहास पर एक पुस्तक लिखने का निश्चय किया; 1967 में इस परियोजना का प्रारम्भ हुआ, परन्तु इस बीच मेरे लखनऊ से अन्यत्र अन्य कार्यों में व्यस्त हो जाने तथा डा० सिंह के कार्य क्षेत्र मे बहुविध वृद्धि हो जाने के कारण इस पर कार्य धीमा पड गया। इस बीच प्राचीन भारतीय विचारो से सम्बन्धित तीन अध्यायो की पाण्डुलिपि तैयार हो चुकी थी और यह देखते हुए कि शेष कार्य व्यस्तता एवं लेखको की दूरस्थता के कारण शीघ्र सम्पन्न होना सम्भव नही है, तैयार सामग्री को प्रस्तुत पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। इसी बीच 1978 में नियति ने क्रूर प्रहार किया और डॉ० वी० बी० सिंह का अकाल ही निधन हो गया और शेष कार्य को सम्पन्न करने की सम्भावना प्राय: समाप्त ही हो गई। पुस्तक के प्रकाशन कार्य में थोडी-बहुत अनिश्चितता और शिथिलता आना स्वाभाविक था, परन्तु प्रकाशक ने अपना प्रयास जारी रखा जिससे डॉ० वी० बी० सिंह की आकांक्षा कम-से-कम आंशिक रूप मे फलीभूत हो पायी और मुझे भी उनके सहयोग में किये गये प्रयास की स्मृति के रूप में इस पुस्तक को प्रस्तुत करने का अवसर मिला।

प्राचीन भारतीय इतिहास एक वृहद एवं बहुधा विवादपूर्ण विषय है। इस पुस्तक के लेखक इतिहासकार नही हैं, अत: मूल विषय पर किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नही कर सकते। इस पुस्तक मे मूलत: सामान्यतया स्वीकृत ऐतिहासिक तथ्यो एवं व्याख्याओं के आधार पर प्राचीन भारतीय विचारो के आर्थिक पहलुओ का विवरण एवं विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, लेखक

अर्थशास्त्री हैं और उनका उद्देश्य विभिन्न मूल एवं अनुसंधानित स्रोतों से आर्थिक विचारों का सचयन करना रहा है, साथ ही साथ उनका यह मत है कि विचारो का समसामयिक आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियो से गहन सम्बन्ध है, अतः प्राचीन भारत के आर्थिक विचारों एवं उनके परिवर्तनों को सम्पूर्ण सामाजिक संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में आँकने की चेष्टा की गई है। एक सर्वाङ्गीण विचार-धारा में से आर्थिक विचारों का संचयन एवं तत्कालीन संदर्भ में उनका विश्लेषण एवं मूल्यांकन इस पुस्तक की विशेषताएँ है और इन्ही में इसकी मौलिकता भी निहित है। कतिपय स्थानों पर इसी संदर्भ में पाश्चात्य तथा आधुनिक आर्थिक विचारों के साथ समुचित तुलना का भी समावेश किया गया है। आशा है कि पुस्तक आर्थिक विचारो के इतिहास के विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों के लिये उपयोगी एवं रुचिकर सिद्ध होगी।

पुस्तक के कुछ अंशो एवं बिन्दुओं पर हमें स्वर्गीय डा० डी० डी० कौशाम्बी की राय से पत्राचार द्वारा लाभान्वित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। डा० वी० बी० सिंह द्वारा डा० आर० एस० शर्मा से बातचीत के फलस्वरूप कई पहलुओं पर हमें समुचित मार्ग निर्देशन प्राप्त हुआ; इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डा० यू० एन० राय ने पांडुलिपि में कई सुधार सुझाए जिससे हम मूल पांडुलिपि की कई त्रुटियाँ भी दूर कर पाये। हम इन सभी विद्वज्जनों के आभारी है, पर साथ ही पुस्तक में जो त्रुटियाँ या कमियाँ अवशेष रह गई हों उनके लिये हम स्वयं उत्तर-दायी है।

लखनऊ

त्रिलोक सिंह पपोला

# परिचय

इतिहास एवं आर्थिक चिन्तन के बीच सदैव पारस्परिक एवं प्रभावपूर्ण सम्बन्ध पाया गया है। जहाँ एक ओर काल विशेष की स्थितियाँ एवं समस्याये तत्कालीन आर्थिक चिन्तन के स्वरूप एवं दिशा को प्रभावित करती है, दूसरी ओर आर्थिक विचार भी इतिहास की दिशा निर्धारित करने मे योगदान देते हैं। काल विशेष की समस्याओ के विश्लेषण एवं समाधान को ध्यान मे रखते हुए आर्थिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन होता है। अतः समाज और अर्थ-व्यवस्था में ऐतिहासिक परिवर्तनो के साथ जब इन समस्याओं के स्वरूप में परिवर्तन आता है तो आर्थिक विचारधारा भी तदनुसार नये मोड लेती है और नये आयाम प्राप्त कर लेती है। इस पुस्तक मे प्रस्तुत विश्लेषण मुख्यतया आर्थिक विचारो के इसी ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया का प्रतिपादन करता है।

इस पुस्तक मे 600 ई० पू० और 600 ई० के बीच के काल की आर्थिक प्रवृत्तियो एवं विचारो का अध्ययन प्रस्तुत है। यह अध्ययन एक प्रकार से प्रारम्भिक है और साथ ही साथ मौलिक भी। हमारा अध्ययन वैदिक काल से आरम्भ होता है, जब समाज साधारण था। आर्थिक प्रणाली चारागाहो से कृषि-प्रणाली मे परिवर्तित हो चुकी थी। शिल्पकारो का स्थान महत्त्वपूर्ण होने लगा था। राज्य-सत्ता परिवार, कुल तथा ग्राम पर आधारित थी। सेनापति तथा ग्रामपति चुने जाते थे। सभा तथा समिति प्रशासनिक इकाइयाँ थी। देश छोटे-छोटे राज्यो में बँटा हुआ था परन्तु एक चक्रवर्ती राजा होता था।

प्राकृतिक साधनो की सापेक्षिक बहुलता के फलस्वरूप आधुनिक अर्थ मे 'आर्थिक समस्या' का उद्‌भव नही हुआ था। देश की रक्षा तथा धनोपार्जन हेतु भूमि, पहाड़, नदियाँ आवश्यक समझे जाते थे। परन्तु यह मानते हुए कि इन

प्राकृतिक साधनों का बगैर मानव शक्ति के शोषण नही किया जा सकता, जन-संख्या की वृद्धि की आवश्यकता पर बल दिया गया था। मानव शक्ति और उसकी उत्पादकता भौतिक उत्थान की कुंजियाँ मानी जाती थी। दरिद्रता को पाप समझा जाता था। और धन उपार्जन एवं उपभोग मानव धर्म का एक मुख्य अंग माना जाता था। परन्तु धनोपार्जन के उचित तथा अनुचित ढंगो में भेद किया गया था। दीर्घकालीन सुख को लघुकालीन आनन्द से उत्तम माना गया है।

काम करने वालों को 5 वर्ग में विभक्त किया गया है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शिल्पकार तथा दास। कार्य करने की आदत की प्रशंसा की गई है, जबकि आलस्य की भर्त्सना। सामुदायिक उत्पादन को व्यक्तिगत उत्पादन की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। आर्थिक तथा सामाजिक उत्थान की इकाई की प्रशंसा की गई है। चूंकि उत्पादन का विधान सामुदायिक आधार पर है इसलिये लगान, मजदूरी, लाभ इत्यादि सम्बन्धी विचारों का अभाव है।

वेदोत्तर कालीन भारत आर्थिक विचारों के इतिहास में कौटिल्य (चाणक्य) के 'अर्थशास्त्र' (322 से 298 ई० पू०) का ही मुख्य स्थान है। कौटिल्य एक तरह से मैकेवेली (1469 से 1527 ई०) के गुरु माने जाते है। कौटिल्य कालीन भारत में समाज चार वर्णो में विभाजित एव वर्णाश्रम धर्म के चार आश्रमों की आचार संहिता से प्रशासित था। लगता है 'आर्थिक समस्या' का प्रादुर्भाव हो चुका था, पर कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' इस समस्या पर बल देते हुए भी केवल आर्थिक विश्लेषण व नीतियो तक ही सीमित नही है। 'अर्थशास्त्र' में राजतंत्र के सभी पहलुओ पर विचार मिलते हैं।

'अर्थशास्त्र' में सर्वप्रथम संस्थापित एवं परम्परागत धर्म-प्रधान विचारों के विरोध में अर्थ-प्रधान विचारो का प्रतिपादन किया गया है। 'अर्थशास्त्र' शब्द का पहला अंग अर्थ है। कौटिल्य ने अर्थ, धर्म तथा काम में अर्थ को ही सर्व-प्रथम स्थान दिया है। सामाजिक विचारों के इतिहास मे यह क्रान्तिकारी मोड है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' मे प्रधान आर्थिक विचार निम्न हैं: (1) सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार, (2) नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था, (3) राज्य का सर्वोपरि महत्त्व, तथा (4) राज्य का कुछ विषयो पर एकाधिकार। इस प्रकार कौटिल्य मिश्रित अर्थ-प्रणाली के जन्मदाता कहे जा सकते है।

वेदोत्तरकालीन भारत राजनैतिक अस्थिरता से ग्रसित रहा है। कुछ ही शताब्दियो में अनेक वंशो—मौर्य, शुंग, कुषाण और गुप्त—के राज्य आये और समाप्त हुए। इस काल मे अर्थ-प्रधान ग्रन्थो का अभाव मिलता है। जहाँ कही भी भौतिकवाद का उल्लेख मिलता है वह कौटिल्य तथा अन्य विचारको की विचारधारा के खंडन-मंडन के संदर्भ में ही मिलता है। अर्थ-प्रधान के स्थान पर पुनः धर्म-प्रधानता आने लगी। चार पुरुषार्थों में अर्थ को धर्म की अपेक्षा गौण माना जाने लगा। परन्तु अर्थशास्त्र को न्यायशास्त्र एवं राज्यशास्त्र से अलग नही किया गया। साथ ही साथ धन की धारणा, धनोपार्जन की विधियाँ एवं उनके उद्देश्यों का प्रचुर उल्लेख मिलता है। पहले की ही तरह इस काल में भी उत्पादन का महत्त्व सर्वाधिक था। पहली बार कृषि प्रधान देश मे किसानो का वर्गीकरण हल के स्वामित्व के आधार पर किया गया है। इस काल के विचारको ने कृषि के उपयुक्त संचालन हेतु भूमि के प्रकार, कृषि की कार्य-विधि, वर्षा एवं वीज आदि के सम्बन्ध में अपने विचार विस्तृत रूप से प्रस्तुत किये है। इस प्रकार कृषि-अर्थशास्त्र का स्पष्ट विकास हुआ।

श्रम को उत्पादन का एक ओर तो साधन माना गया है और दूसरी ओर श्रम-कल्याण को उत्पादन का उद्देश्य। इसीलिये इस काल की विचारधारा में हमे श्रमिको के संरक्षण एवं कल्याण के लिये प्राविधान की आवश्यकता पर स्पष्ट वल मिलता है।

दूसरी ओर राज्य के कार्यों के सम्बन्ध मे भी सुरक्षा एवं कल्याण के उद्देश्यों की स्पष्ट व्याख्या की गयी है। राज्यकोष की महत्ता दो दृष्टिकोण से बतलाई गई है : देश की आक्रमणो से सुरक्षा तथा जनता का कल्याण। दूसरी ओर करारोपण के आधारो का भी स्पष्टीकरण हुआ है। कर देय क्षमता तथा न्याय करारोपण के मूल सिद्धान्त माने गये हैं।

हम लोगो का इस पुस्तक में प्रयत्न रहा है कि इतिहास तथा अर्थशास्त्र के आन्तरिक सम्बन्धो की पृष्ठभूमि मे आर्थिक विचारो का उल्लेख तथा उनकी आधुनिक अर्थशास्त्र से तुलना करें। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा मे हमारे प्रयत्नो की शृंखला की दूसरी कडी है यद्यपि यह ऐतिहासिक रूप से सबसे प्राचीनकाल से सम्बन्धित है। आधुनिक भारत की आर्थिक विचारधाराओ से सम्बन्धित

दो पुस्तकों की योजना की गई जिनमें एक प्रकाशित हो चुकी है[1] और दूसरी का सृजन विचाराधीन है जिसका क्षेत्र स्वाधीनतोपरान्त विचारो का मूल्याकन होगा।

आशा है कि यह पुस्तक इतिहास, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के विद्यार्थियो एवं सामान्य पाठकों का अपनी विषयवस्तु के सम्बन्ध में ज्ञानवर्धन करेगी और इस जटिल विषय के समझने में उपयोगी सिद्ध होगी।

लखनऊ
11 जून 1978

वी० बी० सिह
टी० एस० पपोला

---

1. Singh, V. B., Naoroji to Nehru : Six Essays in Indian Economic Thought, New Delhi, 1976.

# अनुक्रम

●

अध्याय 1

# वैदिक साहित्य में आर्थिक विचार

# वैदिक साहित्य में आर्थिक विचार

## विषय-स्रोत

वेद एवं वैदिक साहित्य विश्व की प्राचीनतम साहित्य-निधियों में है। प्रागैतिहासिक कालीन सामग्री होने के कारण इन ग्रन्थों के रचना काल के विषय पर विद्वानो में मतभेद पाया जाता है। सामान्यतया, वैदिक साहित्य का रचना काल 1500 ई० पू० से 600 ई० पू० के बीच माना जाता है।

साधारणतया सहिता—चार वेद—मात्र को ही वेद कहा जाता है। पर सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को, वैदिक विचारधारा के सन्दर्भ में; निम्न चार भागों में बाँटा जा सकता है। **संहिता :** चार वेद—ऋग्, साम, यजुर् तथा अथर्ववेद। (2) **ब्राह्मण :** ब्राह्मण ग्रंथों में वैदिक यज्ञों की विधि का विस्तृत वर्णन है। प्रत्येक संहिता से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थ निम्न प्रकार है : (अ) **ऋग्वेद** (ऐतरेय एवं साख्यायन ब्राह्मण), (ब) **यजुर्वेद** (शुक्ल शतपथ ब्राह्मण तथा कृष्ण, तैत्तिरीय और आरण्यक ब्राह्मण), (स) **सामवेद** (ताण्ड्य ब्राह्मण), (द) **अथर्ववेद** (गोपथ ब्राह्मण)। (3) **उपनिषद् :** उपनिषदों का विषय दार्शनिक एवं ज्ञानकाण्ड है। इनकी कुल संख्या 108 बताई जाती है, पर अभी तक उपनिषदों में निम्न 12 ही महत्त्वपूर्ण माने जाते है : बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, तैत्तिरीय-उपनिषद्, ऐतरेय उपनिषद्, कौषीतिकी उपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, ईशोपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् तथा मैत्रायणोपनिषद्।

इस अध्याय में प्रस्तुत विश्लेषण उपर्युक्त मूलस्रोतों एवं इनसे सम्बन्धित साहित्य पर आधारित है।

## राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दशा

वैदिक आर्य "जनो" में विभक्त थे। उनमें मुख्य "पंचजन" थे। उनके नाम थे अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वसु और कुरु। ये सरस्वती के दोनों तटों पर रहते थे। चूंकि ये जन कालान्तर में पृथक्-पृथक् टोलियों में आये थे और इनके निवास स्थल भी भिन्न-भिन्न थे, अतः इनका पारिवारिक जीवन काफी संघर्षमय था। यह

संघर्ष न केवल एतद्देशीय अनार्यों के साथ रहा, परन्तु स्वयं आर्यों के आभ्यंतरिक द्वेष भी कम न थे।[1] आर्यों के पारस्परिक संघर्ष के उदाहरण के रूप में ऋग्वेद में वर्णित भरतों के राजा सुदास और विश्वामित्र के मंत्रों से लड़ने वाले दस राजाओं के संघ के बीच युद्ध है। किन्तु आर्यों को अनेक भयानक युद्ध भारत की अनार्य जातियों, जिनको वे "दस्यु" और "दास" कहा करते थे, से करने पड़े। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि आर्यों और अनार्यों की सभ्यता मे वड़ी विषमता थी। अनार्यों ने आत्म-रक्षार्थ भीषण संघर्ष किए पर आर्यों की शक्ति के आगे जंगलों और पर्वतों की शरण ली और इन्ही से आर्यों की वर्ण-व्यवस्था मे "शूद्र" नाम से चतुर्थ श्रेणी बनी।

वैदिक राष्ट्र-शक्ति की आधारशिला थी उसका सराहनीय सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन। संगठन की मूलभूत इकाई थी "कुल" या "गृह"। गृह-समूह मिलकर "ग्राम" का, ग्राम-समूह मिलकर "विश" का और विश-समूह मिलकर "जन" का निर्माण करते थे। साधारण जनता युद्ध में नेतृत्व और शांति में रक्षा करने के लिए "राजा" को स्वयं चुनती थी। सेना का अध्यक्ष "सेनानी" और ग्राम का अध्यक्ष "ग्रामणी" कहलाता था। "पुरोहित" राज-परिवार का एक महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी होता था जो राजा के युद्धानुष्ठानों एवं अन्य कार्यों मे सफलता की मंगल-कामना करता था। सभी जन-वृद्धों द्वारा निर्मित "सभा" और साधारण जनता द्वारा निर्मित "समिति" राजा की शक्ति एवं इच्छा पर नियंत्रण रखती थी, वह निरंकुश न था। साधारणतया छोटे-छोटे राज्य थे, परन्तु युद्धों एवं दस्यु-मय वातावरण के कारण संगठन शक्ति की आवश्यकता का अनुभव कर साम्राज्य का भी सूत्रपात होने लगा था।

विवाह के अनिवार्य और अटूट बंधन मे आबद्ध नर-नारी सुखी गृहस्थ जीवन विताते थे। साधारणतया एक पत्नी-विवाह की प्रथा थी किन्तु बहुपत्नी-विवाह से भी लोग अनभिज्ञ न थे। बहुपतिक और बाल-विवाह नही होते थे। समाज में नारी का स्थान पुरुष के समकक्ष था। उनकी शिक्षा का भी प्रवन्ध समान था। वे यज्ञों मे भाग लेती थी, किं बहुना अपाला, विश्ववारा, घोषा और लोपामुद्रा जैसी कितनी ही नारियाँ मंत्रद्रष्टा होकर ऋषि-पद प्राप्त कर चुकी थी। पति और पत्नी के अतिरिक्त परिवार के सदस्य होते थे—माता-पिता, भाई-बहिन, और पुत्र-पुत्री आदि। ये सदस्य परस्पर स्नेह, प्रेम, श्रद्धा और त्याग-वृत्ति से अनुप्राणित

---

1. डॉ० भगवत शरण उपाध्याय, प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ 29

थे, कभी वैमनस्य हो जाने पर सम्पत्ति का विभाजन कुल विभाजन के अनुसार हो जाता था।

आर्य सूती और ऊनी दोनो प्रकार के रंग-बिरंगे वस्त्र धारण करते थे, इनको सोने के तारों द्वारा सुईकारी कर अत्यधिक आकर्षक बनाया जाता था। वेद मन्त्रों मे वर्णित विशेष वस्त्र है अधोवस्त्र, नीवी, उत्तरीय और शाल। कुण्डल, हार, कंगूर और मणिबन्ध आदि आभूषणों से वे अपने को सुसज्जित करते थे। नारियाँ अनेक वेणी रखती थी। वे तेल डालकर बालों में कघी करती थी। श्मश्रु रखने की परम्परा थी, आर्य छुरे से दाढ़ी बनाना जानते थे।

आर्य-जीवन कृषिप्रधान था। जौ और सम्भवतः गेहूँ मुख्य खाद्यान्न थे। उनके आहार में फलों और तरकारियों का बाहुल्य रहता था। सम्भवतः आर्यगण मासाहारी भी थे। भेड़-बकरी का माँस खाया जाता था। आर्य आसवपायी थे। वे "सोमरस" पान करते थे। "सोम" वस्तुतः क्या वस्तु थी इस पर मत-वैभिन्न्य है किन्तु इतना निर्विवाद है कि यह कोई मादक वस्तु थी। इसी कारण ऋषि लोग इसका प्रयोग जब-तब वर्जित करते थे।

दुन्दुभि, मृदंग और वीणा आदि वाद्य-घोषों से समाहित नृत्य-गान का अत्यधिक प्रचलन था जिसमें नर-नारी सहभागी होते थे। रथ-धावन और अश्व-धावन विहार के साधन थे। द्यूतक्रीडा परमप्रिय थी। जीवन प्रसन्न और सुखी था। प्रारम्भ में आर्यों का जीवन युद्धाच्छादित था। वे आखेटप्रिय थे। धनुष-बाण, भाले, बर्छे, परशु आदि से सुसज्जित सेना युद्ध के समय रण-घोष करती थी। शत्रु-शस्त्रो से रक्षार्थ वे कवच धारण करते थे। पशु-पालन और कृषि आर्यों की प्रमुख वृत्ति थी। वे गाय, बैल, अश्व, भेड, बकरी, कुत्ते और गदहे पालते थे और हलों से जुताई कर जौ, गेहूँ और तिल आदि अन्न उपजाते थे। कुओं और सरिताओ से सिचाई करते थे। वैसे कही-कही ऋग्वैदिक ऋचाओ मे सामुद्रिक यात्रा का आभास मिलता है लेकिन मुख्यतया उनका नाविक जीवन नदियो तक ही सीमित था।

## आर्थिक विचार

ज्ञान तथा विज्ञान के विस्तृत सागर वैदिक साहित्य में हर प्रकार के इह-लौकिक तथा विशेष रूप से पारलौकिक विषयो पर पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। पर भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए आर्थिक साधनो के उपयोग सम्बन्धी विषयों का अपेक्षाकृत सीमित विवरण ही प्राप्त होता है। राजकीय कार्य-विषयक विवरणो के सम्बन्धः में बाद के लेखको—कौटिल्य आदि ने अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो

का प्रतिपादन किया है पर वेदों तथा उनसे सम्बन्धित साहित्य में इस सन्दर्भ-विशेष में भी कोई सुसम्बद्ध आर्थिक विचारधारा का दिग्दर्शन नहीं होता। आर्थिक विचारों के इस अपेक्षाकृत अभाव को सामान्यतया प्राचीन भारतीय मस्तिष्क के ईश्वरवाद और इहलौकिक सुखों की उपेक्षा का परिणाम बताया जाता है। पर तत्कालीन 'भारतीय विद्वज्जनों के विचारों की इस स्थिति को हम स्वतःनिर्मित या आत्मजात नहीं मान सकते। वेदों तथा वैदिक साहित्य मे इहलौकिक, भौतिक एवं आर्थिक विषयों पर उतना बल नही दिया गया, इस बात को गलत नहीं ठहराया जा सकता। पर प्रश्न यह उठता है कि भारतीय मस्तिष्क मौलिक रूप से ही इस प्रकार का क्यों था? सम्पूर्ण मानव समाज की ही भाँति भारतीय समाज मे भी भौतिक सुखों की अधिकतम प्राप्ति एवं धन संचय की प्रेरणा क्यों नही थी? क्या भौतिक सुखो की प्राप्ति की लालसा एवं धन-संचय की प्रवृत्ति पाश्चात्य व्यक्तित्व का ही विशेष गुण है? वास्तव में भारतीय मानव विश्व के किसी भी अन्य मानव के समान ही था, मानवजाति की एक सामान्य प्रवृत्ति है—धन-संचय और सुखों मे वृद्धि करने की। परन्तु यह प्रवृत्ति परिस्थितियों के अनुसार कम या अधिक तीव्र हुआ करती है। आज हम जिसे 'आर्थिक समस्या' (Economic Problem) कहते हैं, अर्थात् सीमित साधनों को असीमित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उचिततम रूप मे उपयोग में लाने की समस्या, इस का अस्तित्व अनादि काल से इसी तीव्रता के साथ सदैव रहा है, यह बात सत्य नही है। यह कहा जा सकता है कि प्रागैतिहासिक काल में न केवल भारत मे परन्तु विश्व भर मे इससे विपरीत समस्या का अस्तित्व रहा हो, अर्थात् समस्या इस प्रकार रही हो कि असीमित साधनों का किस प्रकार सीमित उद्देश्यों (आवश्यकताओं) की पूर्ति में उपयोग किया जाय और इस समस्या के अस्तित्व के अर्थ है "आर्थिक समस्या" का अभाव। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नही, और शायद सम्भव भी नहीं कि मानव मस्तिष्क आर्थिक विषयो के अध्ययन पर अधिक जोर दे। वैदिककालीन भारत मे भूमि की कोई कमी नही थी, जो इस बात से स्पष्ट है कि वेदो मे हमे कही भी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का उल्लेख नही मिलता और व्यक्तिगत स्वामित्व तथा अधिकार से सम्बन्धित नियमों का विधान उसी स्थिति मे आवश्यक माना जा सकता है जबकि माँग पूर्ति से अधिक हो जाय। देश की सुरक्षा एवं समृद्धि के लिए पर्वतों एवं नदियों का बाहुल्य भारत की अमूल्य निधि रही है जिनका वेदो में

स्पष्ट उल्लेख है[1]। ऋग्वेद में, भारत की उस समय की99 नदियों का उल्लेख मिलता है[2]। इन समस्त नदियों द्वारा सींचे जाने वाली ऋग्वैदिक भारत-भूमि का विस्तार उत्तर में मेरठ तथा कुमायूँ क्षेत्र, पश्चिम में अम्बाला, जालन्धर, लाहौर, रावलपिण्डी, पूरा पंजाब (विभाजन से पहले का) एवं अफगानिस्तान से पूर्वी भाग तक, दक्षिण मे सारस्वत समुद्र तथा पूर्व मे तिब्बत तक फैला बताया गया है[3]। इस प्रकार वर्तमान भारत की सम्पूर्ण उपजाऊ भूमि पर तथा उसके बाहर भी ऋग्वैदिक भारत का विस्तार था। जनसंख्या के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल मे भारत मे जनशक्ति की न्यूनता ही रही होगी अन्यथा विवाह के अवसर पर वर-वधू को कम से कम दस पुत्रों के माता-पिता होने का आशीर्वाद न दिया जाता। इन सब बातों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक भारत में प्राकृतिक साधनो की प्रचुरता थी। आर्थिक समस्या का प्रश्न अपेक्षाकृत महत्वहीन था। शायद वैदिक समाज निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था मे था। गीगर का कहना है कि हमे ऋग्वेद की ऋचाओं में एक मौलिक प्रारम्भिक मानव जीवन की ऐसी झाँकी प्राप्त होती है, जिसमे विदेशी प्रभाव नही है, बल्कि जिसका प्रादुर्भाव अभी-अभी प्रकृति की गोद मे हुआ है। यहाँ पर प्रत्येक तत्त्व अपनी प्रारम्भिक निर्माणात्मक अवस्था मे है न कि तैयार और अन्तिम रूप में।[4]

---

1. उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत्।
   (यजुर्वेद, 26-15)
2. नवानां नवतीनां विषस्य रोपुषीणाम् (ऋग्वेद, 1-91-13)
   नव च यन्नवर्ति च स्त्रवन्तीः (ऋग्वेद, 1-33-14)
3. Bhargava, M. L. The Geography of Rigvedic India, U. I. P. H. Ltd., Lucknow, pp. 129-30.
4. Very differently from all others of the oldest literature known to us which show new forms rising in the ruins of a past sunk in oblivion...., we have in these hymns the picture of an original primitive life of mankind, free from foreign influences, not restored in new forms from the distinction of the past, but springing forth new and young from the bosom of Nature,—a spiritual form still unspoiled in word and deed, and that which

इस प्रकार एक ऐसे समाज में जहाँ प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता हो, जनसंख्या न्यून हो, विकास पुर्ननिर्माणात्मक न होकर प्रारम्भिक व मौलिक हो, "आर्थिक समस्या" सम्बन्धी प्रश्न निस्सन्देह ही गौण हो जावेंगे और साहित्य में भौतिक और आर्थिक विचारों के सापेक्षिक अभाव की यही व्याख्या हो सकती है।

## धन की उपासना

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वैदिक ऋषि भौतिक सुख एवं कल्याण की भावना से अनभिज्ञ थे। सार्वजनिक कल्याण एवं सुख की चाह से प्रेरित निम्न-लिखित सुभाषित का उद्गम वेदों के अतिरिक्त और कही नहीं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

वैदिक परम पुरुष तथा अन्य आराध्य देवों की उपासना विभिन्न दृष्टिकोणों से की गयी है। वेदों के रचयिता कवि के लिए यह दैविक स्वरूप, नैतिक विधान, शारीरिक तथा भौतिक विधान का स्रोत तथा मौलिक जीवन का सिद्धान्त है। पूजाकार के लिए वह भौतिक सम्पत्ति का स्रोत, स्वयं पूजाकार या बलिदान स्वरूप है। दार्शनिक के लिए वह संयम का स्रोत, अनेकों में एक तथा परम-ज्ञान है। जब वेदों का पूजाकार परम पुरुष या किसी अन्य देव को भौतिक सम्पत्ति का स्रोत मानकर उसका पूजन करता है तो उसे यह बात स्पष्टतया ज्ञात है कि कल्याण तथा भौतिक सुख का साधन भौतिक समृद्धि अथवा धन ही है। यद्यपि ब्राह्मण के लिए धन-लोलुप होना महान पाप माना गया है, पर संसार में कोई देश ऐसा नहीं जहाँ पर कि अपने परिवार के पालन-पोषण करने का कर्त्तव्य भारत की अपेक्षा अधिक समुचित रूप से निभाया गया हो। धन चाहे वह

---

everywhere else we see only as complete and finished here presented in process of formation. Therefore, in these hymns lies the key to understanding not only the subsequent development of the Indians........but also from the unity of nature recognised in the whole process of development of our race..........."

Geiger, L., Quoted by Adolf Kalgi, Life in Ancient India, Calcutta, 1950, pp. 37-38.

पशुरूप[1] में हो या किसी अन्य रूप में, सदा वांछनीय माना गया है। ऋग्वेद में विभिन्न प्रकार के धन की वाछनीयता, तथा निर्धनता की बुराइयों का उल्लेख विभिन्न देव-वंदनाओं में मिलता[2] है।

वेदों मे समृद्धि के बहुत से गुण बताये गये हैं जिनसे पता चलता है कि वैदिक साहित्य मे धन की धारणा सर्वजनहित से विशेषकर सम्बन्धित थी। धन और कल्याण दोनों को परस्पर सम्बद्ध माना जाता था। यह बात इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि समृद्धि के लक्षणों के रूप मे जो पदार्थ बताये गये हैं उनका उपभोग एवं कल्याण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अन्न, पशु, दुग्ध, आरोग्य आदि सभी पदार्थ समृद्धि के सूचक[3] माने गये हैं। इन्द्र[4], अग्नि[5] एवं पूषन् से पूजा के

---

1. ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में पशुओं के रूप में ही धन की गणना होती थी। यह स्वाभाविक भी है क्योकि जैसा कि हम अभी देखेंगे, वैदिक लोगों का मुख्य व्यवसाय पशुपालन ही था।

   सनिद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षमः।
   दस्युहनं प्रर्मिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
   (ऋ० 10-47-4)

   अश्वावंतं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणं शतिनं वाजमिन्द्र।
   मद्रव्रातं विप्रवीरं स्वषमिस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
   (ऋ० 10-47-5)

   गवामश्वाना वयसश्च विष्ठा भगं: वर्चः पृथिवी नो दधातु।
   निधिं विभ्रति बहुधा गुहा वसु मणि हिरण्यं पृथिवी ददातु मे॥
   (अथर्व० 12-1)

2. अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
   शिरिम्बिठस्य सत्वमिस्तेमिष्ट्वा चातयमासि॥ (ऋ० 10-155-1)

3. उपहूता इहगावः उपहूता अजावयः।
   अथोऽन्नस्य कीलालं उपहूतो गृहंसुन॥
   उपहूता भूरिधनः सखाय स्वाह सन्मुद.।
   अरिष्टा सर्वपुरुष गृहानः सन्तु सर्वदाः॥ (अथर्व/पिप्पलाद 3-25-26)

4. ऋग्वेद 2-21-6
   त्वे ह यत् पितराश्चिन्न इन्द्र विश्वा वाना जरितारो असन्यन्।
   त्वे गावः सुदुघास्ते ह्यश्वास्त्वं वसु देवयते वनिष्ठः (ऋ० 7-18-1)

5. अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाग्नेऽहं।
   गृहपतिना भ्रयसि सुगृहपतिरत्त्वं॥ (यजुर्वेद 2-27)

समय इन्हीं की याचना गृहस्थ की समृद्धि के लिए की गयी है। इसके अतिरिक्त वीरों, पुत्रों एवं धान्य की भी याचना[1] इहलौकिक समृद्धि के लिए की गयी है।

वास्तव में, सूक्ष्म दृष्टि से देखने में यह प्रतीत होता है कि वेद मनुष्य जीवन को उसकी पूर्णता में स्वीकार करते हैं। जीवन के किसी एक पहलू का अन्य पहलुओं की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्व समझा गया हो यह बात नहीं है, जीवन के विभिन्न आदर्शों और पहलुओं के बीच समुचित सन्तुलन ही वेदों के ज्ञान का रहस्य है। पारलौकिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों को बल देते हुए वेदों में मानव जीवन के ऐहिक कर्त्तव्यों एवं सुखों की उपेक्षा नहीं की गयी है। जहाँ एक ओर ईश्वर या परमपुरुष को सम्पूर्ण विश्व में जीवन का स्रोत मानकर, मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य उसी में विलीन हो जाना माना गया है, वहीं, दूसरी ओर इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख है कि ईश्वर के द्वारा असीमित भौतिक व प्राकृतिक साधन मानव द्वारा भोग करने के लिए प्रदान किए गये हैं। इस प्रकार वेदों की विचारधारा में ऐहिक और भौतिक सुखों[2] को भी यथोचित स्थान प्राप्त है।

इसलिए वेदों में मनुष्य द्वारा धन का संचय करना और उसका उपभोग करना मनुष्य जीवन का उपयुक्त कर्त्तव्य माना गया है। पर इन सब प्रक्रियाओं को कुछ नियमों तथा सिद्धान्तों के अनुसार ही उपलब्ध और उपभोग किया जा सकता है। इन नियमों के विरुद्ध धन कमाना अवांछनीय माना गया है। ऋग्वेद में इस बात का स्पष्ट उपदेश दिया गया है कि द्यूतक्रीडा आदि अनैतिक विधियों के द्वारा धन प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए और ऐसे लोगों को खेत में जाकर कृषि करने, पशुओं का पालन करने और अपनी गृहस्थी चलाने को आहूत किया गया है[3]। इसके अतिरिक्त इस बात को स्पष्ट रूप से कहा गया है कि

---

आगन्म विश्ववेदसभस्मभ्यं वसुवित्तमम्।
अग्ने सम्राभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ (यजु० 3/38)

1. सुप्रजा प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शस्यपशून्मेपाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ (यजुर्वेद 3/37)

2. इस परम्परा का निर्वाह कालांतर में भी हुआ है। उदाहरणार्थ अशोक के अभिलेख में—"इहा नाजि सुखाययामि परत्रा च स्वगं आराधयन्तु।"

3. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिम् इत् कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।

धन के विषय में विचार करना और उसे प्राप्त करने की इच्छा रखना उत्तम है, पर यह सब केवल वैध तरीको से ही किया जाना चाहिए। धनप्राप्ति की उचित और अनुचित विधियों की पहचान के लिए व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा से प्रश्न करने तथा उसके उत्तर को बुद्धि और ज्ञान की सहायता से समझने की चेष्टा करनी चाहिए[1]। इसके अतिरिक्त जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात धन को अर्जित करने के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कही गयी है वह यह कि दूसरों के सहारे जीवित नहीं रहना चाहिए। पूजाकार वरुण से प्रार्थना करता है "हे राजन् (वरुण) मुझे दूसरे के द्वारा अर्जित धन के आश्रय पर न रहने दें"[2] परन्तु वृद्ध माता-पिता का ऋण चुकाना है[3]।

धन प्राप्ति और समृद्धि के लिए इन सब आकांक्षाओं और नियमों के साथ ही हमें वैदिक साहित्य में—कम से कम उपनिषदो मे—इस बात का प्रमाण मिलता है कि वैदिक ऋषि अल्पकालीन और दीर्घकालीन दृष्टिकोणो मे दृश्यमान द्वन्द्व की सम्भावना से परिचित थे। आधुनिक अर्थशास्त्र मे, विशेषकर, विकास—अर्थशास्त्र (Growth Economics) मे हमें कई बार इस प्रकार के द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ अल्पकाल मे उपभोग में वृद्धि की जाय या कुछ समय के लिए उपभोग की वृद्धि को अपेक्षाकृत कम महत्त्व देकर पूंजी का निर्माण कर दीर्घकाल के लिए समृद्धि के साधनों को जुटाया जाय। इस प्रकार

---

तत्र गावः कितव तत्र जाया
तन्में विचष्टे सवितायम् अर्थः। (ऋ० 10-34-13)

1. परि चिन् मर्ता द्रविणं ममन्याद्
ऋतस्य पथा नमसा विवासंतु।
उत स्वेन क्रतुना सं वदेत्
श्रेयासं दक्षं मनसा जगृम्यात्। (ऋग्वेद 10-31-2)

2. माहं राजन्न् अन्यकृतेन भोजम् (ऋग्वेद 2-28-9)

3. पूर्ववयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्ति।
उत्तमे वयसिपुत्रान् पितपरोपजीवंति॥ (गोपथ ब्राह्मण 1-4-17)
स्वस्तिमात्र उत पित्रे नो अस्तु (अथर्व० 1-31-4)
यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितोऽधयन।
एवत्तदग्ने अनृणो अमाम्यहतापितरौ पयो। (यजुर्वेद 19-11)

की द्वन्द्विक समस्या का बहुत सुन्दर उदाहरण हमें कठोपनिषद्[1] में प्राप्त होता है। नचिकेता के द्वारा सत्य के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न किए जाने पर यमराज उत्तर देता है : "किसी वस्तु का अच्छा होना एक बात है और उसका आनन्दायक होना दूसरी बात। अनेक उद्देश्यों के आधार पर मनुष्य इन दोनों प्रकार की बातों के वशीभूत रहता है। इन दोनों मे वही व्यक्ति कल्याण की प्राप्ति कर सकता है जो "अच्छे" को अंगीकार करता है। जो आनन्द की ओर भागता है वह असफल होता है। सुख (अच्छा) और आनन्द दोनों ही मनुष्य को प्राप्त हो सकते हैं। बुद्धिमान इनको पहचान करता है और आनन्द को स्वीकार करता है। बुद्धिहीन, तात्कालिक सुख के लिए आनन्द की ओर भागता[2] है।" इस प्रकार के विचार वास्तव में आर्थिक विषयों के सन्दर्भ में नही प्रकट किए गये हैं परन्तु इनका तार्किक महत्त्व अर्थशास्त्रीय विषयों के वाद-विवाद के सम्बन्ध में भी उतना ही है जितना कि मोक्ष या मुक्ति प्राप्त करने के मार्गों के सन्दर्भ मे।

## धन के स्रोत : विभिन्न व्यवसाय

अथर्ववेद में मातृभूमि सूक्त के अन्तर्गत देश के लोगों को पाँच प्रकार[3] का कहा गया है—विद्वान, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और दास। परन्तु इनके अन्तर्गत वैदिक भारत के मुख्य व्यवसायों पशुपालन एवं कृषि के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। धन की गणना पशुओं के रूप मे किये जाने तथा देवताओं से पशुओं की प्राप्ति की याचना करने, आदि तथ्यों से यह प्रतीत होता है कि आजीविका तथा धनोपार्जन का मुख्य साधन पशुपालन था परन्तु कृषि भी एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था। वेदों की बहुत-सी ऋचाओं में इस प्रार्थना का अंश निहित है कि, "हमें गोधन से समृद्ध[4] करो"। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

---

1. (1-2-1)
2. यह हिन्दी अनुवाद डा० राघवन द्वारा किये गये अंग्रेजी रूपान्तर के आधार पर किया गया है। (See Raghavan op. cit., pp. 56-76)
3. यस्यापन्नं व्रीहियैव यस्वा इया पचंकृष्टयः।
   भूम्यं पर्जन्यपत्न्यै नामोऽस्तु वर्षमेदसे॥ (अथर्ववेद 12-1-42)
4. याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामनि वेद।
   या अङ्गिरसस्तपसेह चक्षुस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म मच्छ॥
   (ऋग्वेद 16-169-2)

का विचार है कि, "आर्यों का मुख्य धन गाय-घोड़े और भेड़-बकरियाँ थी। वह कुछ खेती भी करते थे, क्योंकि जौ का सत्तू और रोटी उनके आहार में शामिल थे। अधिक धनी और प्रभुताशाली आर्य अपने पशुपालन और कृषि मे दासों और दासियो से सहायता लेते थे। आखिर पचास-पचास दासियों और दासो को रखने का क्या प्रयोजन हो सकता था? पर, साधारण स्थिति के आर्य स्वयं कृषि और पशुपालन किया करते थे[1]।" पशुपालन वैदिक आर्यों का मुख्य व्यवसाय था, यह कथन इस बात से सिद्ध होता है कि वेदों की ऋचाओं में हमे बार-बार गाय, घोड़े, बकरी, बैल आदि की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ मिलती हैं। इन सब मे दुधारू गायो की याचना तो सबसे अधिक की गई है।

पशुपालन के अतिरिक्त वैदिककालीन अर्थ-व्यवस्था में कृषि को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। लोगों को द्यूतक्रीड़ा में समय बर्बाद न कर कृषि करने के लिए आह्वान किया गया है[2]। वामदेव ऋषि बैलों व नरों के सुखी होने और सुखपूर्वक कृषि करने की कामना की है[3]। इसके अतिरिक्त उन्होंने "सीता" (सीता लाङ्गलपद्धतिः) की वंदना की है, जिससे कृषि की महत्ता के सम्बन्ध मे ऋग्वैदिक विचारों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[4]। कृषि का व्यवसाय सामान्यतः अल्पविवेक वाले व्यक्तियों एवं गँवारों का व्यवसाय न होकर, उन युवकों के लिए विशेष रूप से उचित समझा जाता था जो इसे सम्मानित व्यवसाय समझें और कृषियोग्य भूमि, बीज आदि के सम्बन्ध में उचित ज्ञान रखते हों। ऋग्वेद के

---

दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा।
जिष्णू रथेष्ठाः.......................जायताम्॥ (यजुर्वेद 22/22)

1. राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद, 1957, पृष्ठ 34
2. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
   तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः॥
   (ऋग्वेद 10-34-13)
3. शुनं वाहाः शुनंभरः शुनं कृषतु लांगल।
   शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिंगय॥ (ऋग्वेद 4-57-4)
4. अर्वाची सुभगे नवसीते वन्दोमहे ता।
   यथा नः सुभगासिस यथा नाः सुफलासिस॥
   इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूसानु चच्छतु।
   या नः यमस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां सर्मा॥ (ऋग्वेद 4-57-4)

अनुसार भूमि को उसके उपजाऊपन के आधार पर तीन प्रकार का बताया गया है : अर्तना, अवस्वती तथा उर्वरी[1]। इसी प्रकार ऋग्वेद मे भूमि के गुणों के महत्त्व का भी वर्णन मिलता[2] है। शतपथ ब्राह्मण में कृषि कार्य की चार अवस्थाओं का वर्णन है[3]—जुताई, बुवाई, कटाई और सफाई। इसी प्रकार से विभिन्न प्रकार के हलों का उल्लेख मिलता है—जो क्रमशः छः, आठ और बारह बैलों द्वारा चलाये जाते थे[4]।

वैदिक ऋचाओं मे कृषि कार्य के सम्बन्ध मे इसी प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते है, जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक आर्य न केवल कृषि करते थे बल्कि उनका कृषिगत ज्ञान भी विस्तृत तथा सुसम्बद्ध था। कृषि कार्यों को नियोजित रूप से सम्पन्न करना तथा उसमे जिन साधनों की आवश्यकता थी, उनकी उत्कृष्टता का ध्यान बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। कृषि को समुचित आयोजित रूप मे किया जाय, यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते है कि कृषि कार्य के आरम्भ मे "क्षेमपति" की पूजा का विधान बनाया गया है[5]। इस पूजा को अग्रायण की संज्ञा दी गई। इसके पश्चात् ऋग्वेद में गहरी जुताई के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि समुचित वर्षा के हो जाने पर कई बार गहरी जुताई सम्भव हो सकती है।

---

1. सहि शर्धो न मारुतं तुविष्यणिरप्नवलीषूर्वरास्विष्ट निरार्तनास्विवटनिः। आबद्ध्व्यान्याददिर्यज्ञस्य केतुरर्हणा। अर्घ समास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम् (ऋग्वेद 1-127-6)
2. वपन्तो बीजमिव धान्याकृतः पृचन्ति सोमं न मिन्नति बप्सतः ॥ (ऋग्वेद 10-94-13)
3. कृषनतो हस्त्रेव पूर्ववपन्तो यन्ति लुनन्तो अपरे मृणवन्तः। (श० ब्रा० 1-6-1-3)
4. सद्रयोगं सीरं—आहु : (अथर्व 8-9-16)
   सीरं युनक्ति षडश्वं भवति। (श० ब्रा० 13-8-26)
5. युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौःवपतेह बीजम्।
   गिश श्रुष्टिः समरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पवकमेयात् ॥
   सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
   धीरा देवेषु सुम्न्या। (ऋग्वेद 10-101-34)

कृषि की उन्नत दशा का आभास हमे कतिपय मंत्रों मे प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ कई मंत्रो मे वर्ष भर मे कई फसलों के उगाये जाने और विभिन्न प्रकार के अन्नों के उगाये जाने का स्पष्ट विवरण मिलता है।[1] देवताओं द्वारा यज्ञ मे तीन प्रकार के पदार्थो का हवन किया गया—बसन्त ऋतु मे उत्पन्न पदार्थ, ग्रीष्म ऋतु मे उत्पन्न पदार्थ और शरद ऋतु में उत्पन्न पदार्थ।[2] इससे स्पष्ट होता है कि वर्ष भर में तीन फसलो के होने का ज्ञान वैदिक ऋषियों को अच्छी तरह से था। यजुर्वेद मे यज्ञ के माध्यम से ब्रीहि, यव, माष, तिल, मूंग, गेहूँ, मसूर, चना, काँगनी, चीनक, मक्का, कोदो तथा नीवार आदि धान्यो की याचना की गयी है[3] जिससे स्पष्ट होता है कि ऋषियो को विभिन्न प्रकार के अन्नों की कृषि का पूर्ण ज्ञान था।

कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त व्यवसायों की सूची मे उद्योगों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। परन्तु उद्योगो मे उत्पादन का आकार लघु एवं संगठन पारिवारिक तथा कुटीर आधार पर था। विभिन्न प्रकार की कलाओं एवं शिल्पो के विकास के सम्बन्ध में ऋग्वेद मे कहा गया है कि इनके द्वारा निर्धनता का निराकरण और सम्पन्नता की प्राप्ति की जा सकती है।[4] विभिन्न शिल्पो मे कारीगरों की नियुक्ति या वितरण उनकी रुचि एवं स्वभाव को ध्यान मे रखकर करने का उपदेश देते हुए वैदिक ऋषियों ने श्रम-साधन के

---

1. अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।
   यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि॥
   क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मि धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
   मधुश्चुतं श्रुतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मूलयन्तु॥
   मधुन्नतीरोषधीर्द्योव आपो मधुमन्नोभवत्वंतरिक्षम्।
   क्षेत्रस्य पतिमर्धुमान्नो अस्त्यरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ (ऋग्वेद 4-57)
2. यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
   वसन्तो अस्यासीद्राज्यं ग्रीष्म इध्माः शरद्धवि॥ (ऋ० 10-90-6)
3. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्चमे, तिलाश्चमे, मुद्गाश्चमे, खल्वाश्चमे, प्रियंगवश्चमे, डपवश्चमे, श्यामाकाश्चमे, नीवाराश्चमे, गोधूमाश्चमे, मसूराश्चमे, यज्ञेन, कल्पताम्। (यजुर्वेद 18-12)
4. यदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
   तदा रमस्व दुर्हणां तेन गच्छ परस्तरम्॥ (ऋग्वेद 10-155-3)

के उचिततम उपयोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।[1] इस प्रकार के विभिन्न उद्योगों में ऊनी वस्त्र उद्योग, अस्त्र-शस्त्र निर्माण, धातु उद्योग, काष्ठ उद्योग, वास्तुकला एवं भवन निर्माण मुख्य कहे जा सकते हैं। कताई और बुनाई का कार्य मुख्यतया घरों में ही स्त्रियों द्वारा किया जाता था। ऋग्वेद में इस प्रकार बुने गये कपड़े के विभिन्न प्रकारों का वर्णन है।[2] ऋग्वेद में गांधारी बकरी के ऊन के सुन्दर वस्त्र[3] एवं उसको बनाने की उत्कृष्ट विधि[4] का वर्णन भी प्राप्त होता है।

## उत्पादन के साधन

कृषि एवं पशुपालन मुख्य व्यवसाय थे और उद्योगों का कुटीर आधार पर संचालन होता था। इसी कारण वैदिक भारत में पूंजी का महत्त्व उत्पादन के साधन के रूप में अपेक्षाकृत नगण्य रहा है। यह इस बात से स्पष्ट है कि भूमि की महत्ता और प्रशंसा के बारे में तथा जनसंख्या एवं मानव-श्रम के महत्त्व के सम्बन्ध में हमें विस्तृत विचार वेदों में प्राप्त होते हैं पर पूंजी के सम्बन्ध में ऐसे विवरण नहीं मिलते। वैसे तो भूमि की महत्ता पृथ्वी की माँ के रूप में उपासना से अधिक स्पष्ट रूप में मिलती है, पर उपासना से सम्बन्धित सूक्तों में यह भी स्पष्ट होता है कि भूमि को ऐश्वर्य-प्रदायिनी शक्ति एवं उत्पादन के साधन के रूप में भी देखा जाता था। अथर्ववेद के मातृभूमि सूक्त के अन्तर्गत कहा गया है कि "जिस मातृभूमि मे उद्यमशील तथा शिल्पचातुरी में निपुण निजी परिश्रम से खेती करने वाले हुए हैं, जिस भूमि में चार दिशाएँ और चार विदिशाएँ चावल गेहूँ आदि उपजाती हैं। जो अनेक प्रकार से, प्राणधारण करने वालों और चलने-फिरने वालों का धारण-पोषण करती है, वह हमारी मातृभूमि हम सबों का गौएं और

---

1. नानानं व उ नो धियो वि व्रतानि अनानाम्।
   तक्षारिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥
   (ऋग्वेद 9-112-1)

2. आधषिमाणाया पतिः शुचायाश्च युचस्य च।
   वासो वायोवीनामा वासांसि मर्मृजत् ॥ (ऋग्वेद 10-26-6)

3. उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथा।
   सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका ॥ (ऋ० 1-126-7)

4. स सूर्यस्य रश्मिभः परि व्यत तन्तु तन्वानास्त्रिवृतं यथा विदे।
   नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसीः पतिर्जनीनामुपयाति निष्कृतम् ॥
   (ऋग्वेद 9-86-32)

अन्नादि प्रदान कर धारण-पोषण करे।"[1] स्पष्ट है कि यहाँ पर भूमि की उपासना उसकी उपयोगिता के आधार पर की गयी है।

वैदिक साहित्य मे श्रम को समुचित स्थान प्राप्त है। मनुष्य उद्योग करे, परिश्रम करे, अकर्मण्य न रहे, तभी समृद्ध हो सकता है। "जागते रहना, उद्यम एवं पुरुषार्थ समृद्धि के लक्षण है और आलस्य मे सोये रहना दरिद्रता का लक्षण[2] है।" "हे देव, हमे व्यर्थ की वार्ता, आलस्य एवं निद्रा से बचाओ।"[3]

"ईश्वर उनकी सहायता करता है जो आलस्य का त्याग करते[4] है" "ईश्वर उसका मित्र है जो श्रम करता[5] है" या "श्रम से ही विजय प्राप्त होती है।"[6] आदि कथन इस बात को स्पष्ट प्रमाणित करते है कि श्रम की महत्ता कर्मो की सफलता हेतु सर्वोपरि है और आलस्य एवं प्रमाद पापतुल्य माने गए हैं। श्रम की महत्ता तथा सम्मान के सम्बन्ध मे हमे अन्य उदाहरण सेवकों के साथ किये जाने वाले व्यवहार के सन्दर्भ मे मिलते हैं। वैदिक युग मे सेवक परिवार का ही सदस्य माना जाता था। गृहपति से पहले भोजन करने की प्रथा[7] इसका स्पष्ट प्रमाण है। स्वामी और सेवक के भोजन पदार्थो मे कोई भेद नही था।[8] इस प्रकार श्रमिक और सेवक को आज की भाँति हेय या उपेक्षित नही माना जाता था बल्कि वेदो के मतानुसार वे समाज के एक आवश्यक एवं सम्मानित अंग है।

---

1. यस्याश्चतस्र प्रदिशः पृथिव्या यस्मामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
   या विभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिगोवक्ष्यशे दधातु ॥
   (अथर्व० 12-1-4)
2. भूत्यै जागरणं अभूत्यै स्वपनं। (यजु० 30-17)
3. त्रतारो देवा अधि वोचता नो मानो निद्रा ईशत मोतजाल्पे।
   (ऋग्वेद 8-48-14)
4. इच्छति देवा सुन्वन्तं न रचप्राय स्पृहयति। (ऋग्वेद 8-2-18)
5. न कृते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। (ऋ० 4-33-11)
6. कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित। (अथर्व० 7-52-8)
7. स्वेषु मृत्येसु चैवाहि।
8. अघं स केवलं भुक्ते ये पचत्यात्मकारणम्।

## उत्पादन संगठन :

उत्पादन-कार्य करने के लिए वैदिक काल में कोई भी प्रणाली प्रचलित हो, पर इतना निर्विवाद सत्य है कि वेदों में मिल-जुलकर सहकार के आधार पर कार्य करने की विधि को अत्युत्तम माना गया है। अथर्ववेद मे संगठनात्मक समितियों मे मेल-जोल के आधार पर कार्य करने को सफलता का सूत्र बताया गया[1] है। इसी प्रकार ऋग्वेद में बताया गया है कि मिलकर काम करने से, मिलकर खाने से तेज और समृद्धि की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नही[2]। जिस प्रकार से सूर्य, वायु, अग्नि आदि दैवी शक्तियाँ अनन्त काल से परस्पर विरोध रहित अपने-अपने कर्त्तव्यों मे संलग्न है, उसी प्रकार मनुष्यों को भी उनके उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। साथ ही इस बात पर बल दिया गया है कि प्रत्येक कार्य को संगठित होकर एकमत के आधार पर किया जाय। अथर्ववेद में सहयोग और सहकार के सिद्धान्त का उत्पादन और वितरण के क्षेत्र मे पालन करने का स्पष्ट उपदेश है। "एक साथ धन लगाकर एक साथ श्रम कर जो कुछ भी लाभ हो उसका सभी में समान भाव से वितरण हो। अन्न व जल का समान भागों मे वितरण हो। सभी लोग एक ही बन्धन (नियमो) में बँधकर कार्य करें[3]।" इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वेदों के ऋषियों के विचार मे सहकारी संगठन ही उत्पादन संगठन का सर्वोत्तम रूप रहा है।

विभिन्न वर्ण के लोगों के बीच जो भेद की परम्परा भारतीय समाज में मिलती है, वह किसी प्रकार से भी वैदिक विचारों का परिणाम नही है। वेदों के अध्ययन के सम्बन्ध मे यजुर्वेद में स्पष्ट कहा गया है ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों के लिए तो श्रव्य है ही साथ ही विधर्मी एवं विदेशी व्यक्ति भी

---

1. ज्यायस्वन्तश्चित्तिनोमावियौष्ट संराधयन्त सधुराश्चरन्तः।
   न्यन्योन्यस्मै वल्गवदन्तोयात समागास्थ सधीचीनान् ॥
   (अथर्व० 5-19-5)

2. सह नानववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
   तेजस्विनविधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
   संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जायताम्।
   देवाभागं यथा पूर्वे ससृजानामुपासते ॥ (ऋ० 10-191-12)

3. समानीप्रपा सहवो अन्नभागः समानेमोपधे सहवोयुनज्मि।
   सम्यजोग्निं सपर्यतारा नामिमवाकृता ॥ (अयर्व० 5-19-6)

इनका पूरा उपयोग कर सकते है।[1] इसी प्रकार इस बात के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होते है कि विभिन्न वर्ण के लोगों के लिए यह आवश्यक नही था कि वे अपने पितरो के व्यवसाय को ही अपनाएँ। हर युवा व्यक्ति को अपने लिए उचित व्यवसाय चुनने का अधिकार था, इसमे वंशगत व्यवसाय या वर्ण कोई बाधा नही प्रस्तुत करते थे। ऋग्वेद मे उपासक कहता है, मै कवि हूँ। मेरी कन्या पत्थर की चक्की चलाने वाली है। धन की कामना करने वाले नाना कर्मो वाले हम, गाँवो की तरह, एक गोष्ठ में रहते है।[2]

## विनिमय एवं वितरण

वैदिक साहित्य मे किसी सामान्य द्रव्य का उल्लेख नही मिलता जिससे यह पता चलता है कि अधिकतर व्यापार वस्तु-विनिमय के आधार पर होता था। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि यदि मूल्य के मापदण्ड के रूप मे यदि किसी वस्तु का उपयोग होता था तो वह थे पशु और उनमे भी मुख्यतः गाय। इसी प्रकार मूल्य के निर्धारण के सम्बन्ध मे भी कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है। विनिमय की कुछ मान्यताएँ थी, जिनका पालन करना हर विनिमयकर्ता के लिए आवश्यक था। अथर्ववेद मे शौनक मुनि ने व्यापारी के लिए उपयुक्त इन्द्र की प्रार्थना लिखी है, जिसमे व्यापारी कहता है, "हे इन्द्र तुम हमारे मार्ग दर्शक वणिक् बनो। मूल्य न देने वाले से हमे बचाओ, प्रति-स्पर्धी से मुझे बचाओ, मुझे धन प्रदान करो। पृथ्वी एवं स्वर्ग के बीच के देव-मार्ग दुग्ध और घी से युक्त होकर मेरा स्वागत करें ताकि मैं अपने भविष्य के माध्यम द्वारा अधिकतम धन प्राप्त कर सकूँ। हे देवो, मेरी पूँजी मे वृद्धि होती चली जावे, कमी कभी न आवे। हे अग्नि, उन लोगो को नष्ट करो जो मेरे लाभ को नष्ट करना चाहें।[3] स्पष्ट है कि वाणिज्य लाभ कमाने के लिए ही किया जाता था और वैदिक ऋषियों को ज्ञात था कि स्पर्धा की स्थिति में लाभ कम हो जावेगा और व्यापार मे पूँजी की हानि होना बहुत बड़ी हानि है। परन्तु लाभ कमाने के लिए भी नियम है और इन नैतिक नियमो का उल्लघन करते

---

1. ययेमा वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्य :
   ब्रह्मराजन्याभ्या शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च (यजु० 26-2)
2. ऋग्वेद 9-113-3
3. अथर्ववेद (3-8-1, 2, 5)

हुए लाभ कमाना अनुचित है। मूल्य प्राप्त करने के बाद व्यापारी को आवश्यक रूप से वस्तु की पूर्ण मात्रा एवं उचित गुण मे प्रदान करना आवश्यक है।[1] व्यापारी प्रतिज्ञा करता है कि "इस वस्तु को मैं तुम्हें मूल्य लेकर दे रहा हूँ। इसीलिए इसको पूर्ण करके, भरकर, पुनः पूर्ण करके दे रहा हूँ।" इससे व्यवसाय जगत् की सत्यता, अलोलुपता का पता चलता है।

वितरण के क्षेत्र में वैदिक साहित्य मे अर्थशास्त्रीय, मजदूरी, लगान, ब्याज अथवा लाभ के सिद्धान्तों की खोज करना शायद ही उपयोगी सिद्ध होगा। लेकिन धन के समान वितरण की वांछनीयता के सम्बन्ध मे वेदों में स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है। यजुर्वेद मे कहा गया है कि जिन लोगों ने अपने धन को निर्धन जीवों मे वितरण किया, वे अपने पुण्य और यश के प्रभाव से सदैव जीवित है। आकाश में प्रकाशित है।[2]

अपने पास धन होते हुए भी निर्धनों की याचना पर ध्यान न देना बड़ा ही अमानुषिक समझा गया है। ऋग्वेद मे ऐसे बहुत से मन्त्र हैं जिनमे जरूरतमन्द लोगों को अन्न और धन प्रदान करने की वांछनीयता पर जोर दिया गया[3] है। इस प्रकार वेदों मे धन के समान वितरण और आर्थिक समानता को बार-बार वांछनीय बताया गया है।[4]

---

1. ॐ पूर्णदर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत।
   वस्नेव विक्रिणावहा इस मूर्जं॥ (यजु० 3-49)
2. त आजयन्त द्रविणं समस्या,
   ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
   असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते।
   ये मुतानि समकृण्वमिमानि। (यजु० 17-28)
3. ऋग्वेद (10-48-117)
4. समानी प्रपा सह वो अन्न भागः समाने मोपधे सहवो युनज्मि।
   सम्यजो ग्निं-सपर्यतारा नामिमिवामितः (अथर्व० 3-30-6)
   ये समानाः समनसो जीवा जीवेसु मामका।
   येपां श्रीममि कल्पतांस्मिल्लोके शतं समा (यजु० 29-46) तथा
   ऋग्वेद 10-193-3,4, अथर्व० 3-30-1 आदि।

## उपसंहार :

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक समस्या का आधुनिक अर्थ मे, अपेक्षाकृत अभाव होते हुए भी वैदिक आर्य अर्थ-व्यवस्था के सचालन तथा आर्थिक व्यवहार के नियमो से अनभिज्ञ नही थे। ऋषियो द्वारा जो मानव व्यवहार के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध मे उपदेशादि दिए है, उन्ही मे हमे आर्थिक व्यवहार के नियमो की झाँकी भी मिलती हैं। वैदिक काल की आर्थिक विचारधारा को न तो नैतिक एवं आध्यात्मिक दर्शन से भिन्न किया जा सकता है और न ही वैदिक विचारकों को किसी आर्थिक-सम्प्रदाय विशेष की ही सज्ञा दी जा सकती है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन स्फुट आर्थिक विचारों मे व्यक्ति की अपेक्षा समाज, व्यक्तिगत हितो की अपेक्षा सार्वजनिक हितों पर अधिक बल दिया गया है। व्यक्तिगत एव सामाजिक हितो मे द्वन्द्व की स्थितियों की सम्भावना को माना गया है और ऐसी स्थितियो में औषधि के रूप में न तो "पूर्ण स्पर्धा" और "आर्थिक स्वतंत्रता" का आधार लिया गया है, और न ही राजकीय हस्तक्षेप का आह्वान किया गया है, बल्कि नैतिक नियमों द्वारा व्यक्ति के ऐसे व्यवहार को नियंत्रित करने की चेष्टा की गई है जो सामाजिक हितों के विरुद्ध हो। आर्थिक विचारधारा इस प्रकार किसी "वाद" या "सम्प्रदाय" के अन्तर्गत नही आती। यह एक समयोचित विचारधारा थी और घटना-विशेष के सन्दर्भ मे एक विशिष्ट हल को ढूंढने का उपदेश देती थी।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर वैदिक विचारधारा मे निहित कुछ महत्त्वपूर्ण आर्थिक धारणाओ का यहाँ पर उल्लेख किया जा सकता है। सर्वप्रथम यह कहना त्रुटिपूर्ण न होगा कि वैदिक विचारधारा के अनुसार धनोपार्जन मनुष्य का एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है परन्तु इसे उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य या लक्ष्य समझना पूर्णरूपेण असगत होगा। निर्धन होना अभिशाप है परन्तु अधिकाधिक धनोपार्जन करके विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करना भी अनुकरणीय व्यवहार नही है। दूसरे, धन तथा धन-प्राप्ति के साधनों में प्रकृति का सर्वोपरि स्थान है। भूमि व पशु न केवल उत्पादन के साधन है परन्तु धन के प्रमुख रूप भी है। श्रम की महत्ता का उल्लेख अवश्य मिलता है। अपने श्रम के उपयोग से जीविका तथा धन का उपार्जन कर आत्मसम्मान एवं आत्मनिर्भरता की रक्षा करने पर बल दिया गया है। तीसरे, संगठन व सहकार को आर्थिक संचालन का समुचित आधार माना गया है, प्रतिस्पर्धा को नही। अन्त मे, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है

कि आर्थिक व्यवहार को सामाजिक व्यवहार का एक अंग माना गया है, इसलिए आर्थिक कार्यों का सम्पादन समाज के नैतिक विधान के अनुसार ही करना आवश्यक है। आर्थिक तथा नैतिक धारणाओं के द्वन्द्व की स्थिति मे आर्थिक लाभ या स्वार्थ का नैतिक सिद्धान्तों के हित में परित्याग अपेक्षित है।

---

## अध्याय 2

# वेदोत्तरकालीन विचारधाराएँ (1) कौटिल्य

# वेदोत्तरकालीन विचारधाराएँ (1) कौटिल्य

चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व तक भारतीय इतिहास की दिशा वैदिक परम्परा से बिल्कुल ही भिन्न हो चुकी थी। कुछ सामाजिक व धार्मिक संस्थाओ के पूर्ववत् रहते हुए भी राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे मे अप्रत्याशित परिवर्तन हो चुके थे। फलतः इस काल का भारत वैदिककालीन भारत से बिल्कुल ही भिन्न हो गया था। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी न केवल भारतीय इतिहास में, बल्कि विश्व-इतिहास मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी शताब्दी में पहले विकासोन्मुख मकदूनिया के सम्मुख अनेक यूनानी नगरो को नतमस्तक होना पड़ा और तब सिकन्दर के साम्राज्य का अन्त होने पर यूनान का भाग्य-सूर्य अस्त हो गया।

## (1) राजनीतिक स्थिति

काफी समय पूर्व ही राजनीति का केन्द्र पंजाब से हटकर गंगा की घाटी में आ चुका था। तक्षशिला अब गंगा की घाटी और फारस के साम्राज्य के बीच व्यापार का केन्द्र बन चुका था। दक्षिण भारत मे किसी शक्तिशाली राज्य का का पता नही चलता। उत्तर भारत के विदेह, काशी, अग, लिच्छिवी आदि राज्यो मे से अधिकांश को मगध ने बलपूर्वक अपने मे मिला लिया। कोशल और मगध के बीच वास्तविक द्वंद्व रहा पर कुछ ही समय तक। मगध का लोह एवं ताम्र आदि खनिज पदार्थो मे एकाधिकार होने के फलस्वरूप, उसे कोशल पर विजय मिल ही गयी।[1] कुछ अवशिष्ट क्षत्रिय वंश, उदाहरणार्थ कुरु और पाँचाल, महापद्म नन्द द्वारा 350 ई० पू० तक समाप्त कर दिये गये।

सिकन्दर के आक्रमण (327 ई० पू०) के उपरान्त भारत मे यूनानियों के

---

1. खनिजों के महत्त्व को मगध के लोग भलीभाँति समझते थे—

"राजकोष खनिज पर निर्भर रहता है और सेना राजकोष पर" (अर्थशास्त्र 2/12)

"खान युद्ध-सामग्री का गर्भ है" (अर्थशास्त्र 7/14)

विरुद्ध विद्रोह की भावना और फलस्वरूप देशभक्ति का उद्‌भव हुआ। और राजनीतिक एकता के सूत्र मे परिबद्ध होने की लालसा बढ़ने लगी थी। नन्दवंशीय राजा धनानन्द के अत्याचारों से लोग आतंकित थे। उसके द्वारा व्यक्तिगत रूप से अपमानित होने पर कौटिल्य तथा चन्द्रगुप्त ने नन्दवंश की समाप्ति का बीड़ा उठाया और फलतः 320 ई० पू० के लगभग चन्द्रगुप्त मौर्य मगध की गद्दी पर बैठा। इस प्रकार भारत मे सर्वप्रथम एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य की स्थापना हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत का प्रथम महान ऐतिहासिक सम्राट् कहना उचित ही होगा। उसका साम्राज्य पश्चिमोत्तर मे काबुल से लेकर दक्षिण में मैसूर तक और पश्चिम मे सौराष्ट्र से लेकर पूर्व मे बंगाल और असम तक फैला था। इस प्रकार कश्मीर और कलिंग को छोड़कर समस्त भारत एवं बलोचिस्तान सहित अफगानिस्तान उसके राज्य के अन्तर्गत था।

स्थानीय वंशों द्वारा चुने गये प्रधानों के शासन का स्थान एकतंत्र राज्य प्रणाली ने ले लिया था। तथापि पर्याप्त सीमा तक विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति भी विद्यमान थी। उदाहरण के लिए पूरे राज्य का प्रान्तों मे विभाजन किया गया था और हर प्रान्त का शासक एक कुमार होता था। उसकी नियुक्ति सीधे केन्द्रीय सरकार द्वारा होती थी। शासन की सबसे छोटी इकाई "ग्राम" था जिसका प्रबन्ध ग्राम-वृद्धों की सहायता से "ग्रामिक" करता था। पाँच अथवा दस ग्रामों का अधिकारी गोप कहलाता था।

साम्राज्य के सुप्रबन्ध एवं सुरक्षा के हेतु वांछित केन्द्रीकरण की नीति का विकेन्द्रीकरण के साथ समन्वय एवं सन्तुलन स्थापित किया गया था। शासन का प्रधान स्वयं सम्राट् था। युद्ध, न्याय, कानून आदि के सम्बन्ध में उसका निर्णय अन्तिम एवं अनिवार्य था। अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह मे सम्राट् मंत्रिपरिषद से सहायता लेता था, जो केवल मंत्रणा देने वाले मंत्रियों एवं सचिवों की परामर्शदात्री समिति थी।

कौटिल्य के पहले भारत मे अनेक गणराज्य भी विद्यमान थे, जो प्रजातान्त्रिक प्रणाली पर अपना-अपना शासन संचालित करते थे। देश की राजनीतिक दुर्बलता एवं अशांति को देखकर कौटिल्य ने उन सबको एकत्र कर एक विशाल "संघराज्य" स्थापित करने की परिकल्पना की। इस "संघराज्य" मे विभिन्न इकाइयो का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहा, वे स्थानीय शासन और आन्तरिक निर्णय मे तो पूर्णतया स्वतंत्र थे किन्तु केन्द्रीय शासन का प्रभुत्व मानने को विवश थे। एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत प्रजा को अनेक स्वायत्त शासन के अधिकार दिये गये

थे, उनका तात्पर्य केवल यही था कि प्रजा और राजा के मध्य कोई असंतोष, अभाव और मनोमालिन्य न उत्पन्न होने पावे।

### (2) सामाजिक व्यवस्था

तत्कालीन भारतीय समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-की आधार-शिला पर स्थापित था। विवाह जाति-भेद का मुख्य आधार था, अस्पृश्यता नही। यद्यपि थोड़ी बहुत मात्रा में छुआछूत की प्रवृत्ति भी उन दिनो भारतीय समाज मे प्रचलित थी। मेगस्थनीज के अनुसार तत्कालीन समाज में सात भिन्न-भिन्न वर्ग थे, (1) ब्राह्मण एवं दार्शनिक, (2) कृषक, (3) चरवाहे-आखेटक, (4) शिल्पी एवं फुटकर व्यापारी, (5) सैनिक, (6) निरीक्षक एवं गुप्तचर जो लोगों के कार्य का विवरण राजा एवं न्यायाधीश को देते थे, (7) राजा की परिषद् के सदस्य। समाज का यह वर्ग-विभाजन परम्परागत चतुर्वर्ण व्यवस्था से भिन्न प्रतीत होता है। "अर्थशास्त्र" मे हम समाज का चार वर्गों मे स्पष्ट विभाजन पाते हैं। (अध्याय 2)।

पर वास्तव मे मेगस्थनीज का कथन त्रुटिपूर्ण हो यह बात भी नहीं है। मेगस्थनीज ने अल्बरूनी की तरह शास्त्रों को पढ़कर अपना वर्णन प्रस्तुत नही किया बल्कि जो कुछ देखा उसी को लेखबद्ध कर दिया। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही है कि उसे समाज मे वर्ण या जातियों का उतना सही अनुमान नही हो पाया जितना कि वर्गों (classes) का। चतुर्वर्णो के बीच कार्य-विभाजन बहुत मोटा-सा है और इन वर्णो के अन्तर्गत भी कार्यों का उप-विभाजन पाया जाता है। मेगस्थनीज ने इस उप-विभाजन के आधार पर ही विभिन्न कार्यों के अनुसार चार "वर्ण" न देकर समाज के सात वर्ग दिये है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये सात वर्ग, चार वर्णो से भिन्न नही है बल्कि उन्ही के अन्तर्गत ही आते हैं। जहाँ तक प्रथम वर्ग का प्रश्न है, हमें कोई कठिनाई नही होती क्योंकि यह वर्ग, शास्त्रों एवं अर्थशास्त्र के "वर्ण" के ही समान है। श्रमण और ब्राह्मण अशोक के शिलालेखो के अनुसार भी एक ही वर्ण मे सम्मिलित थे। श्रमण और ब्राह्मण मे अन्तर यह था कि श्रमण आजन्म ब्रह्मचारी रहता था और ब्राह्मण 25 वर्ष के ब्रह्मचर्य के पश्चात् विवाह करके सन्तानोत्पत्ति का कार्य भी सम्पन्न करता था। पर दोनों वर्गों को परम्परागत पवित्रता तथा श्रेष्ठता मिली थी, इसलिए इन दोनो को एक ही वर्ण में रखना अनुपयुक्त नही होगा। मेगस्थनीज द्वारा दिया हुआ पाँचवाँ वर्ग निश्चय रूप से क्षत्रिय, वर्ण था। तृतीय वर्ग के चरवाहे एवं आखेटक व्रात्य जाति के अवशेष लोग थे जो अब पूर्णतया आर्यो मे

ही मिल चुके थे। शिल्पी एवं फुटकर व्यापारी जो, मेगस्थनीज के चौथे वर्ग के अन्तर्गत आते हैं, वे नगरों मे वस्तुओं का उत्पादन करते थे और उनको ग्रामीण क्षेत्रों में वेचते थे क्योंकि शिल्पकला का विकास अभी तक ग्रामों मे अधिक नही फैल पाया था। यह वर्ग स्पष्टतया वैश्य वर्ण के अन्तर्गत आता है। मेगस्थनीज द्वारा वर्णित द्वितीय वर्ग के कृषकों को भी साधारणतया इसी वर्ण के अन्तर्गत रखा जाता है। परन्तु मेगस्थनीज ने इस वर्ग का जो विवरण दिया है वह इस प्रकार है : "कुल जनसंख्या का अधिकांश भाग इन्ही लोगों का था, आखेटकों और चरवाहों द्वारा उत्पादित थोड़ी-सी मात्रा के अतिरिक्त सम्पूर्ण भोज्य पदार्थों का अतिरिक्त उत्पादन यही लोग करते थे। कोई अन्य वर्ग इनका उत्पादन करता ही न था। वे कभी शहरों मे प्रविष्ट नही हुए, उन्होंने कभी वस्त्र नही धारण किये, वे सैनिक उत्तरदायित्व से मुक्त थे इत्यादि।" इस वर्ग को वैश्य वर्ण के अन्तर्गत लाने में कठिनाई इस बात की है कि वैश्य लोगों को अभी तक शस्त्र धारण करने एवं पद प्राप्त करने का अधिकार मिला ही हुआ था। इसीलिए कई विद्वान इस वर्ग को शूद्र वर्ण में सम्मिलित करना अधिक उचित समझते हैं।[1] मेगस्थनीज द्वारा वर्णित छठे और सातवे वर्ग में जो राजकीय पदाधिकारी आते हैं, उनको यद्यपि एक अलग वर्ग तो कहा जा सकता है पर उनमे से अधिकांश लोगों को उच्च वर्ग के नागरिकों, जो सम्भवतः ब्राह्मण एवं क्षत्रिय ही अधिकतर थे, में से लिया गया था। यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में वर्गों का उद्भव जातियों एवं वर्णों के रूप मे हुआ और इसलिए इन लोगों मे से अधिकाश वाद मे एक अलग जाति वन गये जिन्हें कायस्थ कहा जाता है। इस जाति के लोग तब भी राज्य में लिपिक एवं लेखा-संयोजकों के रूप में विद्यमान थे पर "कायस्थ" नाम से एक भिन्न जाति का प्रादुर्भाव तब तक नही हो पाया था। इस प्रकार मेगस्थनीज द्वारा वर्णित विभिन्न वर्ग, परम्परागत जाति-व्यवस्था के ही अन्तर्गत आते हैं। लेकिन जाति-व्यवस्था मे अब पहले के बराबर दृढ़ता नही रह गयी थी और धीरे धीरे रूढियों का विघटन होने लगा था।

यह कहा जा चुका है कि समाज वर्णाश्रम व्यवस्था तथा चार पुरुषार्थों की आधारशिला पर टिका हुआ था। चारों पुरुषार्थों में "धर्म" को सर्वश्रेष्ठ अब भी माना जाता था, पर धीरे-धीरे "अर्थ" को महत्त्व देने की प्रवृत्ति वढ रही थी।

---

1. Kausambi, D. D., An Introduction to the Study of Indian History, Bombay, 1956, page 185.

इस प्रकार आदर्शवाद का एक प्रकार से पतन हो रहा था। कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" मे वर्णित समाज मे तो आदर्शवाद का स्पष्ट पतन दृष्टिगोचर होता है। हर कार्य को उसके भौतिक उद्देश्य की पूर्ति के सन्दर्भ मे देखने की प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर विकास हो रहा था। पर जाति-व्यवस्था समाज के ढाँचे को सुसंगठित रखने तथा दृढ बनाने मे पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई। प्रसिद्ध इतिहासकार विल ड्यूरेन्ट के मतानुसार जाति-व्यवस्था ने भारत को सैनिक तानाशाही तथा धनिक-तन्त्र के चंगुल से सुरक्षित रखा एवं आक्रमणो एवं क्रान्तियो द्वारा उत्पन्न दीर्घ-कालीन राजनीतिक अव्यवस्था के वातावरण में सामाजिक नैतिक तथा सास्कृतिक सुव्यवस्था को निरन्तर अविच्छिन्न बनाये रखा।

जाति प्रथा के विकास के साथ ही सवर्ण विवाह की प्रथा का भी विकास हो चुका था। सपिण्ड एवं सगोत्र तथा असवर्ण विवाह वर्जित हो चुके थे। ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष एवं दैव विवाह धर्मानुकूल माने जाते थे तथा गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच विवाह निषिद्ध थे। इन सभी विवाहो का विवरण हमें अर्थशास्त्र मे भी मिलता है (III, II, 152)[1]। पुरुषो के आश्रित होते हुए भी स्त्रियो की दशा आश्रितो जैसी नही थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीय रमणियो ने अस्त्र-शस्त्र ग्रहण कर सजातीय पुरुष सैनिको के साथ शत्रुदल का सामना करने के लिए रणभूमि मे प्रस्थान किया था। कौटिल्य के अनुसार वृत्ति (जीविका के साधन) एवं आबध्य (आभूषण) स्त्रियो की निजी सम्पत्ति थी। पति द्वारा परिवार की व्यवस्था न किये जाने पर पत्नी इनका उपयोग कर सकती थी। विधवा-विवाह को भी औचित्य प्राप्त था (III, II, . 152)[1]

## (3) आर्थिक वातावरण

इस प्रकार तत्कालीन समाज परम्परागत रूढियो एवं नैतिक नियमो तथा सिद्धान्तो पर टिका हुआ था। समाज मे जो विभिन्न वर्ग थे, उनमे भेद अवश्य था, पर वह छुआछूत के आधार पर नही था। मेगस्थनीज के विवरण के अनुसार उस समय भारत मे दास प्रथा प्रचलित नही थी। अशोक के शिलालेखों से यह आभास मिलता है कि छुट-पुट दास प्रथा प्रचलित थी, पर यह निस्सन्देह सत्य है कि दासो के प्रति दुर्व्यवहार समाप्त हो चला था। वास्तव मे सामाजिक ढाँचा अपेक्षाकृत इतना विस्तृत एवं विकेन्द्रित हो चला था कि एक शासक वर्ग द्वारा

---

1. इस प्रकार के सभी अंक "अर्थशास्त्र" के अध्याय, अधिकरण एवं श्लोक को इंगित करते है।

दासों के बल पर उत्पादन-कार्य सम्पन्न करवाना युक्तिसंगत नहीं रह गया था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र (III-13) में दास प्रथा को औचित्य प्रदान तो अवश्य किया पर उसके व्यवहार में अनेक सीमाएँ भी निर्धारित की थीं।

इस काल में सामाजिक संस्थाओं में जो परिवर्तन हुए, वे मुख्यतया निम्न क्षेत्रों में थे—बन्धक की प्रथा, व्याज एवं सूदखोरी। ऋण शब्द का मौलिक अर्थ "पाप" से लिया जाता था। ऋग्वेद में भी ऋण का विवरण तो मिलता है पर व्याज का कोई उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन व्याज या "वृद्धि" शब्द का अर्थ ऐसी फसल के अंश से लिया जाता था जिसके लिये बीज उधार लिया गया हो। पर "अर्थशास्त्र" के रचनाकाल तक व्याज नैतिक तथा आर्थिक रूप से पुष्टि पा चुका था। कौटिल्य लिखते हैं—

"$1\frac{1}{4}$ पण प्रतिशत प्रतिमास व्याज की दर पवित्र एवं न्यायपूर्ण है, 5 पण व्यापार में सामान्य रूप से है, 10 पण ऐसे उद्यमों के लिए उचित है जिनके लिए अरण्य-यात्रा करनी पड़े; और 20 पण ऐसे उद्यमों के लिये जिसके लिये सागर की यात्रा करनी पड़े। 'कोई व्यक्ति जो इससे ऊँची दर पर व्याज लेता या देता है उसे प्रथम सहस्त्र दण्ड ( 96 पण तक ) देना पड़ेगा, और जो ऐसे सौदों की गवाही करता है उसे इसका आधा दण्ड देना होगा……" (अर्थशास्त्र III-11)

वास्तव में मगध साम्राज्य के विस्तार के साथ जब व्यापार, वस्तु-उत्पादन तथा व्यापारिक पूँजी का विकास हुआ तो ऋण लेने और देने की प्रथा का विकास भी स्वाभाविक था, और सामान्य आर्थिक सिद्धान्तो के अनुकूल ऐसी दशा में व्याज का लेना और देना भी स्वाभाविक ही था।

'अर्थशास्त्र' जिस समाज के सन्दर्भ में लिखा गया था वह वृहद् आकार के वस्तु-उत्पादन में कुशल था और सुदूर स्थानों तक व्यापार का भी पर्याप्त विकास हो चुका था। तत्कालीन ग्रन्थों में हमें लगभग अठारह शिल्प मिलते है जिनमे कुछ श्रेष्ठ तथा कुछ हीन माने जाते थे। साधारणतया सभी पेशे वंशानुगत होते थे, पर व्यवसाय को वंश की परम्परा के अतिरिक्त बदलने पर कोई विशेष अवरोध नहीं था। कौटिल्य ने शिल्पियों और कामगारों के बारे में जो विधान बनाया था उससे स्पष्ट है कि उत्पादन संयोजित तथा संगठित रूप से तथा वृहत् आकार में होता था। कौटिल्य ने लिखा है, "शिल्पी लोग स्थान, समय तथा कार्य करने में बहाना करें और काम खराब करें तो उनको मजदूरी तो नहीं ही मिलेगी, उसका दुगुना जुर्माना भी होगा। अगर वे कार्य में देर करें तो उनकी मजदूरी का चौथाई हिस्सा काट लिया जाय और उसका दुगुना जुर्माना वसूल किया जाय।"

(अर्थशास्त्र II, III, 89)

वास्तव मे इस युग में अधिकतर उत्पादन राज्य के प्रत्यक्ष निरीक्षण के अन्तर्गत ही होता था। राज्य कई क्षेत्रों मे एक तरह से पूर्ण एकाधिकार की स्थिति मे था। मेगस्थनीज ने वस्तु व्यापार के लिए स्थापित राजकीय परिषद् का जो विवरण किया है उसकी पुष्टि 'अर्थशास्त्र' मे होती है (IV, II)। निजी रूप से व्यापार करने वाला व्यक्ति कण्टक स्वरूप माना जाता था और समाज के हितो के विरुद्ध किये गये कार्यो के लिये उस पर भारी जुर्माना किया जाता था (IV, II)। मूल्यों का नियंत्रण किया जाता था और साथ ही वस्तुओं के गुण एवं मान का भी। जब कभी आवश्यकता से अधिक उत्पादन होता था तो व्यापार-निरीक्षक को उन्हें किसी एक केन्द्रीय स्थान पर वेचना होता था। जव तक यह माल न बिक जाय कोई अन्य माल नही वेचा जा सकता था। विक्री का काम दैनिक मजदूरी पर काम करने वाले व्यापारी करते थे। (IV, II)। राज्य व्यापार गृह, राज्य अन्नागार तथा कोषो का निर्माण सन्निधातृ को विशेप रूप से करना होता था। माप तथा तौल का उचित पालन करने के अतिरिक्त व्यापा-रियो को जनपदो की सीमाओ से आयात-निर्यात करने पर चुगी भी देनी पडती थी।'

कुछ महत्वपूर्ण एवं लाभदायक क्षेत्रो में राज्य का एकाधिकार था। इनमे से मुख्य हैं पशु-वध गृह (II-27) तथा द्यूत गृह (III-20)। द्यूतगृह मे निरीक्षक शुद्ध पाँसा प्रदान करता था। प्रत्येक वाजी पर 5 प्रतिशत स्वयं लेता था। मद्य तथा वेश्यावृत्ति प्रत्येक के भिन्न-भिन्न मत्रालय थे (II 25, 27)'। द्यूत, मद्य एवं वैश्यावृत्ति का प्रचलन इस वात का द्योतक माना जा सकता है कि उस समय लाभोपार्जन की प्रवृत्ति से प्रेरित वर्ग-समाज का विकास काफी सीमा तक हो चुका था। खनिजों मे सम्पूर्ण प्रकार के पदार्थ, कच्चे खनिज से लेकर, तैयार माल तक सरकार की ही सम्पत्ति थी (II-12)।

उद्योग-धन्धों के विकसित होने पर भी कृषि अभी तक आर्थिक व्यवस्था का मेरुदण्ड बनी थी, वास्तव मे अर्थ-व्यवस्था कुछ बड़े-बड़े नगरो के विकसित हो जाने पर भी मूलरूप से ग्राम्य-अर्थ व्यवस्था ही थी। 'अर्थशास्त्र' के प्रारम्भ में हमे ग्रामो के निर्माण, आयोजन तथा संरक्षण का विस्तृत विवरण मिलता है, साथ ही राज्य को ग्रामो के निर्माण एवं विकास के लिए क्या-क्या कार्य करने चाहिये इनका भी विस्तृत उल्लेख किया गया है। ग्राम सभाओं द्वारा स्वशासित ग्रामो मे फसल का छठा भाग प्रमुख द्वारा उगाहा जाता था और राज्य को कर के रूप मे प्रदान किया जाता था। राजा चाहे तो किसी भी गृहपति (कृषक) को भूमि कर

से मुक्त कर सकता था। कृषकों के अधिकार सुरक्षित थे, फसल के ऊपर उनका पूर्ण अधिकार था। भूमि जोतने वाले वर्ग से कोई सामरिक या सैनिक सेवा नही ली जाती थी। हाँ, आपत्ति काल में उन्हें निर्धारित भूमि कर के अतिरिक्त कुछ और सहायता भी राज्य को देनी होती थी। अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि संकट के समय राज्य की ओर से किसानों को सहायता भी दी जाती थी।

शिल्पी या कामगार लोग व्यावसायिक श्रेणियों ( Occupational or Craft Guilds ) मे संगठित थे। इन श्रेणियो के अपने नियम और उपनियम थे जिनका पालन समुदाय या समूह के हर सदस्य को अनिवार्य रूप से करना होता था। उन्ही लोगों मे से एक 'ज्येष्ठ' था 'श्रेष्ठिन्' चुना जाता था जो एक उत्तरदायित्वपूर्ण तथा गौरवशाली पद माना जाता था। इन ज्येष्ठक तथा श्रेष्ठिन् लोगों को राज-दरबार में उपयुक्त सम्मान प्राप्त होता था और उनकी श्रेणियाँ आर्थिक तथा राजनीतिक मामलों को भी प्रभावित करती थीं। इन श्रेणियों के कार्य बहुउद्देश्यीय थे। ये एक ओर तो अपने सदस्यो की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बैंकों का काम किया करती थी। 'दूसरी ओर ज्येष्ठक की अध्यक्षता में उनकी एक कार्यकारिणी भी होती थी जो न्याय-प्रशासन का कार्य करती थी। श्रमिकों के आपसी झगड़ों का निर्णय इसी के हाथ मे होता था। इसके अतिरिक्त ये श्रेणियाँ अपने सदस्यों द्वारा निर्मित वस्तुओं की शुद्धता एवं गुणवत्ता पर नियंत्रण रखती थीं और इन वस्तुओं के मूल्यों का नियंत्रण भी उन्हीं के हाथ में था। कुछ श्रेणियों की अपनी निजी सेनाएँ भी होती थीं। सब श्रेणियों का एकमात्र प्रमुख राज्य का कोषाध्यक्ष—भाण्डारिक होता था जो इन सब श्रेणियों का सर्वोच्च अधिकारी माना जाता था।

इस प्रकार ये श्रेणियाँ बहुधन्धी संस्थाएँ थीं, जो एक साथ श्रमिक संघ, मूल्य-नियन्त्रण एवं अधिकोषण के कार्य किया करती थी। इन संस्थाओं ने वंशगत व्यवसायों की कार्यकुशलता की रक्षा एवं विकास मे प्रचुर योगदान किया। उन्होंने समाज तथा राज्य को समय-समय पर आर्थिक सहायता प्रदान की और अपने तथा जन साधारण के आर्थिक कल्याण को सुनिश्चित एवं स्थिर बनाया। उनकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए राज्य सदा उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता का सम्मान करता था तथा उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध किया करता था। यदि ये श्रेणियाँ कोई समाजविरोधी कार्य करती या आपसी झगड़े के कारण इनका अस्तित्व खतरे मे पड़ जाता तो राज्य हस्तक्षेप करने से भी नही चूकता था।

## "अर्थशास्त्र" की विचारधारा

इस युग के दार्शनिकों एव विचारकों में आचार्य कौटिल्य[1] का नाम अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्वभावतः सर्वप्रथम लिया जाता है। स्वयं कौटिल्य इस बात को स्वीकार करते है कि उन्होने उन सब अर्थशास्त्रियों का सार लेकर अपने "अर्थशास्त्र" की रचना की, जो प्राचीन आचार्यों द्वारा पृथ्वी के जीतने और पालन के उपायों के सन्दर्भ मे लिखे गये हैं।[2] विद्या की इस शाखा (अर्थशास्त्र) की इन पुराने आचार्यों बृहस्पति, चार्वाक, शुक्राचार्य, मनु, भारद्वाज, पराशर, पिशुन (नारद), कौणपदन्त, वातव्याधि, बाहुदंतीपुत्र, आदि ने व्याख्या अवश्य की, पर यह व्याख्या विशाल धर्मग्रन्थो एवं नीतिशास्त्रों के एक छोटे-से अंग के रूप तक ही सीमित रही। सर्वप्रथम कौटिल्य ने ही इन सब अंशो का सार लेकर, उनमे अपने मौलिक विचारो का समावेश कर "अर्थशास्त्र" पर एक भिन्न ग्रन्थ रचने का साहस किया। इस कारण उनका नाम शास्त्रों की इस शाखा के विचारको मे सर्वप्रथम लेना उचित ही होगा।

भारत तथा विदेशों, विशेषकर, रूस, जर्मनी[3] और फ्रांस[4] मे कौटिल्य और

---

1. प्रोफेसर कौशाम्बी के मतानुसार यही शुद्ध नाम है। "कौटिल्य" शब्द जिसका साधारणतया उपयोग होता है, कुटिलता से बना है। चूंकि कौटल्य की विचारधारा परम्परागत आदर्शवाद के विरोध में भौतिकवाद पर अधिक जोर देती है जो कि धर्माचार्यों को उचित नही प्रतीत हुआ, इसीलिए उन्होने "कुटिलता" का पुट देने के लिए उन्हें "कौटिल्य" नाम दे दिया। Kausambi, D. D., An Introduction to the Study of Indian History Bombay, 1956, page 199.
2. पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यार्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यै.
   प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम् ॥
   अर्थशास्त्र प्रथम अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक।
3. उदाहरणार्थ Breloer (B), Kautaliya Studien, 2 Vols. (Boune, 1928) Hildebrandt (A), Atindische Politik (Jena 1923) Meyer, (J. J), Uber das Wesen der Altindischen Rechtsschniften (Lipzig, 1926)
4. उदाहरणार्थ Nag. (K.), Les Theories Diplomatiques De L'Inde Ancienne L'Arthasastra (1923)

"अर्थशास्त्र" पर जो शोधकार्य हुआ है, उसमें कौटिल्य के जीवनकाल तथा सम्बन्धित तथ्यों के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। कौटिल्य "अर्थशास्त्र" में हर अध्याय की समाप्ति पर अन्तिम श्लोक मे अपना नाम अंकित करते हैं और अन्त मे एक श्लोक में स्वयं द्वारा नन्द वंश के विनाश किये जाने का उल्लेख करते हैं।[1] कौटिल्य द्वारा नन्द वंश का विनाश किया जाना एवं चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक करना, स्वयं उसका प्रधानमन्त्री बनना आदि ऐतिहासिक तथ्य हैं। इस तथ्य की पुष्टि हमे विष्णुपुराण मे भी मिलती है।[2] यह बात निर्विवाद रूप से सत्य हो चुकी है कि चन्द्रगुप्त मौर्य 321 वर्ष ईस्वी पूर्व के आस-पास सिंहासनारूढ़ हुआ और अशोकवर्धन 296 ई० पू० में। इस प्रकार इतिहास एवं पुराणों द्वारा समर्थित मत के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र की रचना 321 एवं 300 ई० पू० के बीच हुई।

यदि कोई आधुनिक अर्थशास्त्र का विद्यार्थी कौटिल्य के ग्रन्थ को एक सरसरी निगाह से देख जाय तो वह यह सोचेगा कि क्यो इस ग्रन्थ को "अर्थशास्त्र" की संज्ञा दी गयी। वास्तव में यदि कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" मे कोई व्यक्ति आधुनिक (पाश्चात्य) अर्थशास्त्र (इकॉनॉमिक्स) की पाठ्य पुस्तक की सामग्री ढूंढ़ने लगे तो वह निस्सन्देह निराश ही होगा। इसके दो कारण हैं। सर्वप्रथम तो कौटिल्य मूलतः अर्थशास्त्री (इकॉनॉमिस्ट) नही थे। वे मुख्यतया एक दार्शनिक, कूटनीतिज्ञ एवं राजनीतिक विचारक थे। यह बात उन सभी आधुनिक यूरोपीय अर्थशास्त्रियों के सम्बन्ध में भी सत्य है, जो दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र या धर्मशास्त्र से अर्थ-शास्त्र में आये। इसीलिए एडम स्मिथ, जॉन स्टुअर्ट मिल, माल्थस आदि की

---

1. येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भू।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्।
अर्थशास्त्र, पंचदश अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक 80

2. महापथः। तत्पुत्राश्चैकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यन्ति नवैव।
तान्नन्दान्कौटिल्यो ब्राह्मणस्समुद्धरिष्यति।
तेषाभभावे मौर्याश्च पृथिवी भोक्ष्यन्ति।
कौटिल्य एवं चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति।
तस्यापि पुत्रो बिन्दुसारो भविष्यति तस्याप्यशोकवर्धनः।
(विष्णुपुराण, अध्याय 4, श्लोक 24)

रचनाओ मे भी हमे वह विषय-सामग्री प्राप्त नही होती जिसे आज का अर्थशास्त्र का विद्यार्थी अपने अध्ययन की मुख्य सामग्री समझता है।

परन्तु कौटिल्य का "अर्थशास्त्र" एडम स्मिथ की वैल्थ आफ नेशन्स, मिल की प्रिन्सिपल्स तथा माल्थम की रचनाओ की अपेक्षा आधुनिक अर्थशास्त्र से बहुत अधिक दूर है। यह दूरी समय[1] एवं स्थान की दूरी का परिणाम भी बहुत सीमा तक हो सकती है। पर इसके अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि प्राचीन भारतीय विद्याओ मे "अर्थशास्त्र" का क्षेत्र एवं स्थान वह नही समझा जाता था जो कि इन लेखको के लेखन-काल मे यूरोप मे समझा जाता था। आधुनिक अर्थशास्त्र या यूरोपीय अर्थशास्त्र क्या है उसका क्षेत्र एवं स्थान क्या है, यह अर्थशास्त्र के विद्यार्थियो को भलीभाँति ज्ञात है। उसकी यहाँ पर व्याख्या करना अनावश्यक एवं सन्दर्भरहित है। हमें अब देखना यह है कि प्राचीन भारत मे "अर्थशास्त्र" का क्या स्वरूप था और कौटल्य किस अर्थ मे "अर्थशास्त्री" थे।

## 1—अर्थशास्त्र का विभिन्न विद्याओं में स्थान

**(क) विद्याएँ**—प्राचीन भारत मे ज्ञान की हर सुव्यवस्थित शाखा को शास्त्र या विद्या कहा जाता था। कौटल्य के अनुसार विद्याएँ चार है—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति।[2] आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत सांख्य अर्थात् सारे दर्शन शास्त्र, योग अर्थात् उपासना शास्त्र, और लोकायत अर्थात् नास्तिक दर्शन आते

---

1. यूरोपीय अर्थशास्त्रियों को ये पुस्तकें 18वी सदी के उत्तरार्ध में तथा उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध में लिखी गयी थी और कौटल्य का रचनाकाल जैसा कि हम बता आए है ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व का है। इस प्रकार दो हजार वर्ष से अधिक समय इन दोनों के बीच गुजर चुका था।
2. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या.। अर्थशास्त्र प्रथम अधिकरण द्वितीय अध्याय, श्लोक। शुक्राचार्य के मत में 32 विद्याएँ है। (शुक्रनीति अधिकरण 4, अध्याय 3, श्लोक 50-59)। वे अपनी सूची में वार्ता और दण्डनीति का समावेश नही करते, पर अर्थशास्त्र का उल्लेख करते हैं। और इसे राजनीति और अर्थशास्त्र के यौगिक शास्त्र से रूप में परिभाषित करते है। अर्थशास्त्र को वे "अर्थवेद" की संज्ञा देते है और उसे एक उपवेद के रूप में मानते है। मनु वार्ता को एक विद्या के रूप में मानते है पर आन्वीक्षकी को त्रयी का ही एक अंग मानते है। बृहस्पति दण्ड एवं नीति दो हो विद्याएँ मानते हैं।

है।[1] साम, ऋक् एवं यजुर्वेद इन तीन वेदों को त्रयी विद्या कहते हैं।[2] इसमें धर्म-अधर्म की व्यवस्था है। ये तीन वेद एवं अथर्ववेद तथा इतिहासवेद मिलकर "वेद" कहलाते हैं। शिक्षा, कला, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिष ये वेद के अंग हैं। वेद के उच्चारण की प्रक्रिया को शिक्षा कहते हैं। कृषि पशु-पालन और व्यापार ये वार्ता कहलाते हैं।[3] आन्वीक्षिकी, (न्याय शास्त्र) त्रयी (वेद विद्यज्ञ) और वार्ता (व्यापार) इनके सुचारु रूप से संचालन करने में दण्ड ही समर्थ है। दण्ड देने की विधि को दण्ड-नीति कहते हैं।[4] इन विद्याओं की सार्थकता-निरर्थकता को वाद-विवाद से सिद्ध करके संसार का उपकार करना, विपत्ति और सम्पत्ति मे बुद्धि को ठीक ठीक रखना, बुद्धिमत्ता, वाक्चातुरी, क्रिया-कुशलता आदि सम्पादन करना **आन्वीक्षिकी** विद्या का कार्य है।

कौटिल्य द्वारा किए गए विद्याओं के इस विभाजन मे अर्थशास्त्र का स्थान है यह स्पष्ट नही है और न यही स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र क्या है। लेकिन इन विद्याओं और अर्थशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध समझने के लिए हमें "अर्थ-शास्त्र" मे पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है। विद्याओं का यह विभाजन कौटल्य के पूर्वाचार्यो द्वारा भी दिया गया था, यद्यपि हर आचार्य का मत दूसरे से कुछ न कुछ भिन्न पड़ जाता है, पर अर्थशास्त्र किसी न किसी रूप मे इन सब विभाजनों में विद्यमान था।

(ख) **वार्ता**—कौटिल्य द्वारा दिये गये विभाजन मे "वार्ता" अर्थशास्त्र के सबसे अधिक निकट जान पड़ती है। जैसा कि बताया जा चुका है, वार्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन, एवं व्यापार आते हैं। वार्ता शब्द की उत्पत्ति "वृत्ति" (व्यवसाय या जीविकोपार्जन) से हुई है और इसका उपयोग संकुचित अर्थ मे "विशेष व्यवसायों के विषय से सम्बन्धित ज्ञान की शाखा या शास्त्र"[5] के रूप मे

---

1. सांख्य योगो लोकायत चेन्वान्वीक्षिकी। अर्थशास्त्र प्रथम अधिकरण, द्वितीय अध्याय, श्लोक 10
2. साम्नग्यजुर्वेदास्त्रयी, अर्थशास्त्र, प्रथम अधिकरण, तृतीय अध्याय, श्लोक 1
3. कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। अर्थशास्त्र, प्रथम अधिकरण, चतुर्थ अध्याय, श्लोक 1
4. Ibid श्लोक 4-5
5. ततः प्रादुर्बभौ तासा सिद्धिस्त्रेतायुगे पुनः।
   वार्त्तार्थसाधिकाप्यन्था वृत्तिस्तासां ही कामतः॥ (वायु पुराण 8, 124)

तथा विस्तृत अर्थ मे समस्त व्यवसायो के रूप में किया गया है। कौटिल्य के अनुसार धान्य, पशु, सुवर्ण, ताम्रादि अन्य धातु तथा सेवको की प्राप्ति कराने के कारण वार्त्ता संसार के लिए सबसे अधिक उपयोगी है। राजा भी इस वार्त्ता विद्या के अनुसार उपार्जित कर आदि द्वारा कोप भरता है या दण्ड देने में समर्थ होता है। इस तरह राजा अपने और शत्रु पक्ष के लोगो को वश मे रखने में भी समर्थ होता है।[1] कौटल्य कृपि, खनिज तथा पशुधन आदि से तथा व्यक्तिगत सेवाओ से धन का उपार्जन, उसका व्यापार एवं विनिमय तथा उससे होने वाली राजकीय आय-व्यय के विपयो को वार्त्ता के अन्तर्गत रखते है। कृपिप्रधान अर्थ व्यवस्था होने के कारण, इस विपय मे कृपि पर अधिक बल दिया जाना तथा उद्योग-धन्धो पर अपेक्षाकृत कम जोर देना, स्वाभाविक ही था। वार्त्ता का महत्त्व किसी भी सामाजिक व्यवस्था के लिए कितना अधिक था, यह इस बात से सिद्ध हो जाता है कि कौटिल्य ने अध्ययन के पाठ्यक्रम मे इसको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और राजा को स्वय इसे राज्य द्वारा नियुक्त विशेषज्ञो से पढने का प्राविधान किया है।[2] व्यावहारिक पक्ष पर अधिक जोर देने की परम्परानुसार वार्ता को ज्ञान के चार प्रमुख भागो में से एक माना गया और उसे व्यावहारिक ज्ञान की श्रेणी मे रखा गया। इस प्रकार इसे कला एवं विज्ञान दोनो माना गया। वास्तव मे कला एवं विज्ञान का निरर्थक संघर्ष तब के विद्वानो से दूर ही था।

**(ग) पुरुषार्थ सिद्धान्त**—"अर्थशास्त्र" का क्षेत्र निस्सन्देह वार्त्ता से अधिक विस्तृत है। दूसरी ओर "अर्थशास्त्र" "इकॉनॉमिक्स" की अपेक्षा भी अधिक विस्तृत है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विषय-सूची पर ही एक दृष्टि डालने पर इस बात की पुष्टि हो जाती है। विभिन्न विद्याओ एवं अर्थशास्त्र के बीच एक कड़ी है जो इन दोनो को सयुक्त करती है और वह है ज्ञान एव पुरुषार्थ का

---

1. धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी । तया स्वपक्षं च वशीकरोति कौशदण्डाभ्याम् ॥ (अर्थशास्त्र 1, 4, 2-3)
2. वृतोपनयनस्त्रयीम् आन्वीक्षिकी च विष्टेभ्यः ।
   वार्ताम् अध्यक्षेभ्य. दण्डनीति वाक्प्रयोक्तृभ्य ॥ (अर्थशास्त्र 1, 5, 8)
   महाभारत में तो वार्त्ता को जगत् का मूल तथा पालक बताया गया है और कहा है कि जब तक राजा वार्त्ता का उचित पालन करता है, तब तक सर्वत्र कल्याण की सृष्टि होती है।
   वार्त्तामलोषं लोकस्य तया वै धार्यते सदा ।
   तत्सर्वं वर्तते सम्यम् यथा रक्षति भूमिपः ॥ (वन पर्व 6, 7, 35)

सम्बन्ध। भारतीय पुरुषार्थ सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जीवन के चार उद्देश्य हैं—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। मनुष्यों द्वारा व्यवहृत प्रवृत्तिमार्ग एवं निवृत्तिमार्ग के अन्तर्गत आने वाले सभी कार्य इन चार प्रकार के उद्देश्यों के अन्तर्गत वर्गीकरणीय है। अर्थ एवं काम स्पष्टतः प्रवृत्तिमार्ग के अन्तर्गत आते हैं। दूसरी ओर मानव-कार्य के दो क्षेत्रो का भी संकेत दिया गया है: व्यावहारिक एवं पारमार्थिक। चार पुरुषार्थो मे से प्रथम तीन, धर्म, अर्थ एवं काम, क्रमशः नैतिक एवं धार्मिक, आर्थिक तथा ऐश्वर्य सम्बन्धी मूल्यो का प्रतिनिधित्व करते है, और इहलौकिक उद्देश्यो की प्रपूर्ति करते हैं। मोक्ष मनुष्य को पूर्ति की ओर ले जाता है और वही निवृत्तिमार्ग का प्रारम्भ होता है।

## 2—अर्थप्रधानता-भौतिकवाद

इहलौकिक पुरुषार्थों मे धर्म का स्थान सर्वोपरि माना गया है। परन्तु "अर्थशास्त्र" की प्रसिद्धि का मुख्य कारण यह है कि इसी ग्रन्थ मे सर्वप्रथम संस्थापित तथा परम्परागत धर्मप्रधान विचारों के विरोध मे अर्थप्रधान विचारों का प्रतिपादन किया गया। इस सम्बन्ध मे हम "अर्थशास्त्र" को भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास में लगभग वही स्थान दे सकते हैं जो 16वी और 18वी शताब्दी के बीच यूरोप मे क्रैमरवाद को प्राप्त हुआ था। कौटिल्य के लिए तीन ऐहलौकिक उद्देश्यो मे से "अर्थ" ही प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण है।[1] इस प्रकार सदियो से स्थापित धर्मप्रधानता की भावना एवं आदर्शवाद के विरुद्ध कौटिल्य की अर्थ विचारधारा एवं भौतिकवाद का प्रादुर्भाव हुआ। आर्थिक विचारों के इतिहास मे भारत मे यह एक तरह की क्रान्ति ही थी और "अर्थशास्त्र" को एक भिन्न विज्ञान बनाने की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण कदम था। धार्मिक मूल्यो एवं पारलौकिक उद्देश्यों से विमुक्त हो जाना अर्थशास्त्र के विकास के लिए आवश्यक है और एक सीमा तक कौटिल्य का अर्थशास्त्र इसी दिशा मे लिखा गया था। इस दृष्टिकोण के अनुसार कौटिल्य ने अर्थशास्त्र को निम्न शब्दों मे परिभाषित किया:

"मनुष्यों के व्यवहार को अर्थ कहते हैं। मनुष्यो से युक्त भूमि को भी

---

1. अर्थ एव प्रधान इति कौटल्यः। अर्थमूलो हि धर्मकामाविति ॥ **अर्थशास्त्र**, प्रथम अधिकरण, सप्तम अध्याय, श्लोक 10-11 अर्थार्थ प्रवर्तते लोकः। **अर्थशास्त्र**—चाणक्य सूत्र 501

अर्थ कहा जा सकता है। इस प्रकार वृत्ति और भूमि की प्राप्ति, उसके पालन के उपायो के शास्त्र को अर्थशास्त्र कहते हैं।"[1]

इस सम्बन्ध में कौटिल्य इस बात का दावा नही करते कि उन्होने किसी नये शास्त्र की खोज की। उनका कहना है कि प्राचीन आचार्यो ने पृथ्वी के जीतने एवं उसके पालन के उपायो से परिपूर्ण जितने अर्थशास्त्र लिखे हैं, प्रायः उन सबका सार लेकर इस एक अर्थशास्त्र का निर्माण किया गया है।[2] पर इस प्रयत्न मे कौटिल्य ने उद्धरण लेने मात्र का कार्य नही किया बल्कि उन्होने प्राचीन आचार्यों के मतों को देने के साथ ही उनके बारे मे अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति एवं अपने मौलिक विचारो को भी प्रस्तुत किया है। वास्तव में "अर्थशास्त्र" पुराने आचार्यो के विचारों का सग्रहमात्र नही है। यह तो कौटिल्य का मौलिक ग्रन्थ है, इसकी तुलना एडम स्मिथ के 'वेल्थ आफ नेशन्स' से इस सन्दर्भ मे की जा सकती है। स्मिथ से पहले अनेकों विद्वानों एवं दार्शनिकों ने धन एवं सम्पत्ति के सम्बन्ध मे अनेकों विचार प्रकट किये थे। किसी-किसी ने पूरे ग्रन्थ भी इसी विषय पर लिखे थे, पर अधिकांश ने राजनीति, न्यायशास्त्र धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र के एक अंग के रूप ही में इसका विश्लेषण किया था। एडम स्मिथ ने इन सब विचारो को एक स्थान पर एकत्रित तो किया है पर उससे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो उन्होने किया, वह था इस विषय पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करना और अर्थशास्त्र को अन्य शास्त्रों से भिन्न एक अलग शास्त्र की श्रेणी में रखना। ठीक यही कार्य कौटिल्य का भी रहा है।

पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात जो कौटिल्य के बारे मे कही जा सकती है, वह यह कि उन्होने अर्थशास्त्र को पुरातन नीति, धर्म एवं परम्पराओं के बन्धन से मुक्त कर भौतिकवाद की वास्तविक इहलौकिक धरती पर लाकर रखा। इस प्रकार अर्थशास्त्र धर्मोपदेश मात्र न रह कर वैज्ञानिक अध्ययन का एक अंग हो गया। कौटिल्य के मत मे धन एवं अर्थ सर्वोपरि है और इसी का अध्ययन

---

1. मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिरित्यर्थ.।
   तस्याः पृथिव्या लाभ पालनोपायशास्त्रमर्थशास्त्रमिति।
   अर्थशास्त्र 15वाँ अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक 1-3
2. पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः
   प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि सहृत्यैकमिदमर्थशास्त्र कृतम्।
   अर्थशास्त्र प्रथम अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक।

अर्थशास्त्र है। उनका कहना है, "संसार में धन ही मुख्य वस्तु है। धन के ही अधीन धर्म और काम है।[1]" कौटिल्य के पहले के विचारक "अर्थ" को धर्म का मूल[2] मानने को कदापि तैयार नहीं थे और कौटिल्य के विचारों ने भारतीय विचार धारा में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी। कहने का तात्पर्य यह नही है कि अर्थ के अध्ययन को कौटिल्य ने नीति, न्याय तथा राजनीति से अलग कर दिया हो। वास्तव में ये सब भारतीय दर्शन की विस्तृत धारा के अन्तर्गत ही मिश्रित रूप से आते हैं। पर धर्म एवं काम की अपेक्षा अर्थ की प्रधानता एवं आदर्शवाद के स्थान पर भौतिकवाद कौटिल्य में ही सर्वप्रथम देखने को आया।

### 3—कौटिल्य अर्थशास्त्र का राजनीतिक आधार

जैसा कि कहा जा चुका है कौटिल्य ने अर्थशास्त्र को राज्यशास्त्र से अलग नही किया। वास्तव मे यदि देखा जाय तो "अर्थशास्त्र में एक विशेष राजव्यवस्था का वर्णन ही प्रधान है और आर्थिक विषयों का अध्ययन इसी व्यवस्था के अन्तर्गत, तथा राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ही किया गया है। वैसे भी किसी भी अर्थशास्त्री को आर्थिक विपयों पर अपने विचार तथा मत प्रस्तुत करने से पहले एक विशिष्ट राजतन्त्र की धारणा अपने मस्तिष्क में बनानी ही पड़ती है, अन्यथा वह बहुधा उस क्रीड़ा-शिक्षक की श्रेणी में आ सकता है जो खेल तो फुटबाल का खेलने को कहता है, पर क्रीड़ांगन टेनिस का उपलब्ध करवाता है। कौटिल्य ने इस प्रकार की त्रुटि नही की। उन्होने सर्वप्रथम राज्यतंत्र के एक विशेष ढाँचे को प्रस्थापित किया और फिर व्यवस्थाएँ बनायी। इस प्रकार कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक तरह से "राजनीतिक अर्थशास्त्र" या "पोलिटिकल इकॉनमी" कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम, "अर्थशास्त्र" का विश्लेषण **सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार** के आधार पर टिका हुआ था। भूमि, पशु, भवन तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार होने पर ही यह सम्भव है कि इन सब पर विभिन्न प्रकार के कर लगाये जा सकें जिनकी कि अर्थशास्त्र मे व्यवस्था की गयी है। भूमि के क्रय एवं विक्रय[3] पर एवं अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर लगाये गये नियंत्रण भी

---

1. अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूलो हि धर्मकामाविति॥
   अर्थशास्त्र प्रथम अधिकरण, सप्तम अध्याय, श्लोक 10-11
2. धर्मस्य मूलमर्थः, चाणक्य सूत्र 2
3. उदाहरणार्थ

व्यक्तिगत अधिकार के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं[1]। पर इसके साथ ही कौटिल्य ने पूर्णतया अनियंत्रित व्यक्तिगत अधिकार की व्याख्या न कर एक प्रकार से "नियंत्रित पूंजीवाद" की व्यवस्था की थी। सम्पत्ति पर अधिकार व्यक्तिगत होते हुए भी उस पर अनेकों नियन्त्रण भी लगे हुए थे। उदाहरणार्थ यदि खेत का स्वामी अन्यत्र रहने लगे और समय पर बीज न डाले तो उस पर दण्ड का विधान है। इस प्रकार हर व्यक्ति को अपनी भूमि बेचने का या खरीदने का अधिकार नही है केवल कर देने वाले, कर देने वालो को ही अपनी भूमि बेच सकते है जिनको भूमि ब्राह्मण की रीति पर दान मे मिली है, वह ब्राह्मण अपनी भूमि ऐसे ही ब्राह्मणों के पास गिरवी रख सकता है[2]। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार का पालन करने में सार्वजनिक अहित का कोई कार्य करता है तो राज्य उसे सम्पत्ति के अधिकार से वचित कर सकता है[3]। इसी प्रकार के कई नियत्रण कौटिल्य द्वारा निर्धारित किये गये है जो कि लगभग उसी प्रकार के है जैमे कि आज पूंजीवाद के नियंत्रण हेतु कई देशों की सरकारों द्वारा लगाये जाते है।

इसके अलावा हर व्यक्ति को अपना निजी व्यवसाय करने एवं उत्पादन-कार्य को सम्पन्न करने की स्वतत्रता थी। पर यहाँ पर भी अप्रतिबन्धित व्यापार के सिद्धान्त का पालन नही होता था। कौटिल्य जनहित के लिए व्यक्तिगत स्वतत्रता को नियंत्रित करने के पक्ष मे थे। महाजन उधार दे सकता था, पर

---

ज्ञातिसामन्तधनिकाः क्रमेण भूमि पदिग्रहान्क्रेतुमभ्यामकेयुः आदि।
अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, नवम अध्याय।

1. उदाहरणार्थ
 दत्तस्याप्रदानमृणादानेन व्याख्यातम्, आदि।
 अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, षोडश अध्याय।
2. श्रमिकस्याक्षिपत. क्षेत्रमुपवासस्य वा त्यजतो बीजकाले द्वादशपणो दण्डः "।
 करदा करदेष्वाधान विक्रयं वा कुर्युः ब्रह्मदेयिका ब्रह्मदेयिषु ॥
 इत्यादि, अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, दशम अध्याय, श्लोक 13-18
3. यदि कृषक स्वयं भूमि को न जोते तो उससे भूमि का स्वामित्व छीना जा सकता था।
 अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत् ॥
 अर्थशास्त्र : द्वितीय अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक 12

ब्याज की दर राज्य द्वारा नियत थी। व्यापारी वस्तुएँ बेच सकता था, पर अत्यधिक लाभ कमाने पर दण्ड का भागी भी होता था। इसी प्रकार मजदूर मजदूरी कर सकता था पर राज्य द्वारा नियत समय एवं विधि के अनुसार कार्य न करने पर वह दण्ड का भागी होता था। इसी प्रकार मालिकों के लिए भी नियम निर्धारित थे। वे मजदूरों को काम पर तभी लगा सकते थे जब काम के अनुसार मजदूरी देने के लिए तत्पर हों। यदि मालिक की अपनी त्रुटि के कारण मजदूर काम न कर पाये तो मालिक को पूरी मजदूरी देनी पड़ती थी। वेश्याओं के व्यवसाय पर भी राज्य का नियंत्रण था। वे अपना व्यवसाय राज्य के अन्तर्गत चला सकती थी, पर उन्हें व्यवहार, दैनिक आय के लेखे तथा व्यवसाय-त्याग के सम्बन्ध में निर्धारित नियमों का पालन करना पड़ता था। इस प्रकार लगभग हर क्षेत्र मे स्वतंत्रता होते हुए भी राज्य द्वारा निर्धारित नियमों का पूर्णतः पालन करना पड़ता था। इन सब का विधान "अर्थशास्त्र" मे विस्तार सहित मिलता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राज्य का महत्त्व सर्वोपरि था। राज्य द्वारा सर्वव्यापी नियंत्रण ही नही लगाये गये थे बल्कि कई क्षेत्रों मे राज्य का पूर्ण एकाधिकार भी था। उदाहरणार्थ वन सम्पत्ति[1], खनिज सम्पत्ति के उत्पादन एवं व्यापार[2], वाणिज्य[3], विदेशी व्यापार[4], आदि पर राज्य का पूरा अधिकार था। इसी प्रकार नमक[5] एवं मादक पेयों[6] के उत्पादन एवं व्यापार पर भी राज्य का एकाधिकार था। सूती उद्योग में कौटिल्य द्वारा राज्य द्वारा प्रत्यक्ष एवं अधिकाधिक भाग लेने का विधान बनाया था[7]। द्यूतगृह, पानगृह, एवं गणिकाओं पर राज्य के हस्तक्षेप का विधान मुख्यतया अपराधों का पता लगाने एवं रोकने के उद्देश्य को लेकर बनाया गया था[8]। इस प्रकार के अनेक नियंत्रणों का उद्देश्य

1. अर्थशास्त्र, द्वितीय, अधिकरण, अध्याय 2-3
2. वही, अध्याय 12
3. वही, अध्याय 16
4. वही, अध्याय 16
5. वही, अध्याय 12
6. वही, अध्याय 35
7. वही, अध्याय 23
8. वही, अध्याय 25

मुख्यतः जनकल्याण था[1]। कौटिल्य के मत मे राजा का कल्याण जनता के कल्याण मे था और राजा को जनता का अपनी सन्तान की तरह पालन और संरक्षण करना चाहिए[2]। इसी मत के अनुसार उन्होने जहाँ कही पर भी व्यक्तिगत अधिकारों को सर्वहित की सीमाओं का उल्लघन करते पाया, वही पर नियंत्रणों का विधान बना डाला।

इस प्रकार कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की आर्थिक विचारधारा की राजनीतिक पृष्ठभूमि नियमित व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त पर आधारित थी। जिसमे राज्य का स्थान सर्वोपरि था। इसके अलावा कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' मे राजनीति के प्रशासन सम्बन्धी विधान के अन्तर्गत हम स्वायत्त सस्थाओ की व्यवस्था भी पाते है। ग्राम-सभाएँ एवं उनकी दी हुई सम्पत्ति तथा अन्य प्रकार के अधिकार, विभिन्न पदाधिकारियों का कार्यक्षेत्र आदि तथ्य शक्तिशाली केन्द्रीभूत राज्य के साथ ही प्रभावपूर्ण विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था की पुष्टि करते है और इनका वर्णन हम पहले ही कर चुके है। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'अर्थशास्त्र' के सिद्धान्त इसी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत लागू होने के हेतु बनाये गये है।

### (4) अर्थ-व्यवस्था

इस प्रकार हम देखते है कि 'अर्थशास्त्र' मे चित्रित अर्थव्यवस्था, एक प्रकार से आधुनिक 'मिश्रित अर्थव्यस्था' का ढाँचा प्रस्तुत करती है जिसमे कई क्षेत्र तो स्वयं सरकार के हाथ मे है और शेष सभी पर सरकार का नियंत्रण है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि कौटिल्य राज्य-समाजवाद के पक्षपाती थे[3]। परन्तु यह सत्य है कि कौटिल्य राज्य एवं समाज के अस्तित्व के लिए सम्पत्ति (ममत्व) का अस्तित्व आवश्यक मानते थे। लेकिन यह भी सही है कि अर्थ-

---

1. नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजाना तु प्रियं हितम् प्रथम अधि० अध्याय 19, श्लोक 39
2. सर्वत्र चोपहतान्पितेवानुगृहीयात्
   अर्थशास्त्र, चतुर्थ अधिकरण, तृतीय अध्याय, श्लोक 54
3. See M.r Hemchandra Ray's article "Was State Socialism known in Ancient India ?" Sir Ashutosh Mukerjee, Silver Jubilee Volume Vol, III, Orientalia, 1922, Pt. I, pp. 429-46.

व्यवस्था एक प्रकार से सुनियोजित थी। प्रतिवर्ष कृषि एवं अन्य व्यवसायों के उत्पादन के आँकड़े इकट्ठे किए जाने का विधान भी 'अर्थशास्त्र' मे पाया जाता है[1]। और इसी के अनुसार प्रति वर्ष का उत्पादन नियोजित किया जाता है।

वार्त्ता एवं कृषिप्रधान 'अर्थशास्त्र' में कृषि का मुख्य व्यवसाय के रूप में वर्णित होना स्वाभाविक ही है। वास्तव मे कौटिल्य के समय की अर्थव्यवस्था कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था थी। कृषि के क्षेत्र ही में कौटिल्य द्वारा अधिकाश प्रस्ताव एवं विचार रखे गये है। सर्वप्रथम 'अर्थशास्त्र' मे ग्रामों के आयोजन, भवन-निर्माण एवं संरक्षण के लिये तो विस्तृत विधान[2] मिलता है परन्तु नगरों के सम्बन्ध मे दुर्ग के निर्माण एवं संरक्षण राजा के भवन एवं हरम के सम्बन्ध मे विस्तृत विवरण के अतिरिक्त कुछ नही मिलता। इससे यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का आधार ग्रामीण अर्थव्यवस्था ही मुख्यतः रही है। आठ सौ गाँवों के बीच केवल एक नगर बसाने का विधान है[3]।

इसके अतिरिक्त कौटिल्य ग्रामों में भी शूद्र (शिल्पी) एवं कृषको को ही अधिकतर बसाने का सुझाव देते है[4]। इस प्रकार कृषि के साथ कुटीर उद्योगो की भी व्यवस्था है। पर वृहद् आकार के शिल्पशाला-उद्योगों के अस्तित्व का आभास हमें केवल इस बात से होता है कि जब कि कौटल्य मजदूरों के विस्तृत विधान का वर्णन करते है[5]। परन्तु पूरे अर्थशास्त्र का अध्ययन करने पर पता चलता है कि कृषि पर ही अधिक बल दिया गया है और यह श्रमिक विधान भी ग्रामीण श्रमिकों के सम्बन्ध मे बनाया हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह नही कि उद्योग-धन्धों का सर्वदा अभाव था। उद्योग-धन्धे उस काल में भारत में काफी पनप चुके थे, पर कौटिल्य की दृष्टि में कृषि का व्यवसाय सबसे महत्त्वपूर्ण था और उन्होने 'अर्थशास्त्र' में इसी को प्रमुख स्थान दिया।

---

1. कोषागाराध्यक्षः सीताराष्ट्रक्रयिमपरिवर्तक प्राभित्यकापमित्यर्कसिहानिर्कान्य-जातव्यपप्रत्ययोपस्थानान्युपलभेत्।
   अर्थशास्त्र अधि० 2, अध्याय 4, श्लोक।
2. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, अध्याय।
3. अष्टशत ग्राममध्ये स्थानीयं। अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, अध्याय 1, श्लोक 4
4. शूद्रकर्षक प्रायं........। अर्थशास्त्र, द्वितीय अधि०, अध्याय 1, श्लोक 2
5. अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, अध्याय 13-14

कृषि के क्षेत्र मे भी जो मुख्य बल दिया गया है वह उत्पादन की वृद्धि पर है। खेतों को समय पर जोतने, बोने एवं गोडने का विधान है। ऐसा न करने वाले कृषकों के लिए दण्ड का विधान है। वर्षा के समय एवं मात्रा सम्बन्धी आँकड़े भी दिये गये है, सिचाई के साधनो के विकास पर अधिक जोर दिया गया है। बंजर भूमि को जोतने के लिए प्रस्ताव रखा गया है[1]। कृषि के लिये पूंजी एवं ब्याज की विशेष व्यवस्था है[2]। वास्तव मे अन्न की महत्ता पर अत्यधिक जोर है[3]।

इस प्रकार 'अर्थशास्त्र' मे ब्रिटिश संस्थापकवादी अर्थशास्त्रियो की भाँति उत्पादन पर अधिकतम जोर दिया गया है। पर यह कदापि न भूलना चाहिये कि यह सब जनता के कल्याण के हेतु ही किया गया है क्योकि असन्तुष्ट प्रजा वाले राजा की दशा एक पहिये की गाड़ी के समान होती है[4]।

अर्थशास्त्र के मूल मे निहित जो सामाजिक वर्ग व्यवस्था—अर्थात् वर्ण व्यवस्था—है, वह भी उत्पादन-प्रमुख ही प्रतीत होती है क्योंकि इसमे से दो वर्ग—वैश्य एवं शूद्र—पूर्णरूपेण उत्पादक वर्ग है। शिक्षक एवं सैनिक वर्ग को उत्पादन मे लाना, सास्कृतिक एवं संरक्षणात्मक कारणो से उचित नही है। इस प्रकार समाज के कुल उपभोग का चिट्ठा स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार फ्रेन्च भौतिकवादी ( फिजियोक्रेट ) अर्थशास्त्रियों की आर्थिक सारिणी मे देखने को मिलता है।

## 5—व्यापार[5]

कौटिल्य उत्पादित पदार्थों के व्यापार तथा विपणन के विषय में भी उतने

---

1. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, अध्याय 2
2. धान्यवृद्धिः सस्यनिष्पत्तावुपास्थविर मूल्यकृता वर्धेत।
   अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, 11वाँ अध्याय, श्लोक 8
3. अन्नदानं भ्रूणहत्यामति मार्ष्टि। कौटिल्य सूत्र, 413
4. नैकं चक्रं परिभ्रमाति, चाणक्य सूत्र 17
5. व्यापार के सम्बन्ध मे कौटिल्य ने कुछ परिभाषाएँ दी है जो निम्न प्रकार है :
   1—**वाणिज्य या क्रयिकः**—धान्य के बेचने से प्राप्त धन, राजकीय द्रव्य से खरीदा हुआ धान्य तथा ब्याज के रूप मे प्राप्त धान्य क्रयिक कहलाता है।

ही सजग थे जितने उनके उत्पादन की वृद्धि के सम्बन्ध मे। कौटिल्य के "अर्थ-शास्त्र" में वस्तुओं के व्यापार का क्षेत्र केवल राज्य की सीमाओ तक ही सीमित नहीं था, बल्कि विदेश मे भी था। व्यापार का निर्वाह स्थान-स्थान पर वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति के आधार पर ही होता था और इसी आधार पर वस्तुओं के मूल्य भी निर्धारित होते थे। पण्याध्यक्ष के लिए यह आवश्यक था कि वह स्थल एवं जल मे उत्पन्न अनेक प्रकार की वस्तुओं, तथा स्थल मार्ग से आने वाली सार, लकड़ी आदि और फल्गु वस्त्र आदि के मूल्य के तारतम्य तथा उनकी प्रियता और अप्रियता का ज्ञान रखे, तथा किस पदार्थ का अधिक तथा किस का स्वल्प संग्रह रखना चाहिए किसको रखना तथा किसे बेच देना उचित है, इस सम्बन्ध में उचित सूचना एवं सुझाव दे।[1]

यह पहले ही बताया जा चुका है कि राज्य-व्यापार की प्रधानता थी। समस्त उत्पादन मे से राजा द्वारा आधा भाग देश की रक्षा के निमित्त रख लेने एवं शेष आधे को प्रजा के उपयोग के लिए प्रदान करने का विधान किया गया है[2]। जो अपनी भूमि मे उत्पन्न राजा की विक्रेय वस्तु है, उसके उसी स्थान पर बेचने का विधान है। अन्य वस्तुएँ पृथक्-पृथक् बिकनी चाहिए। दोनों प्रकार की वस्तुओ के बेचने में राजा को प्रजा के लाभ का ध्यान रखना चाहिए। यदि राजा को अत्यधिक लाभ और प्रजा को कष्ट हो रहा हो तो कौटिल्य का प्रस्ताव है कि इस लाभ को कम कर दिया जाय[3]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कौटिल्य

---

2—**परिवर्तन या वस्तुविनिमय:**—एक धान्य से दूसरे आवश्यक धान्य को खरीदना **परिवर्तन** कहलाता है।

3—अन्य से धान्य आदि आवश्यक वस्तु माँग लेना **प्रामत्यक** कहलाता है।

4—लौटाने की प्रतिज्ञा पर ग्रहण किये धान्य **आपमत्यक** कहलाते हैं।

5—पिछला शेष प्राप्त करना **पर्युषित** कहलाता है। अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण पंचदश अध्याय, श्लोक 4-11

1. पण्याध्यक्षः स्थलजलजानां नानाविधानां पण्यानां स्थलपथवारिपथो प्रयातानां सारफल्ग्वार्घरन्तिरं प्रियाप्रियतां च विधात्। तथा विक्षेपसंक्षेप क्रयविक्रय प्रयोग कालान्॥ अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, 16 वां अध्याय श्लोक।
2. ततोऽर्ध्रमापदर्थ नानापदार्थ स्थापयेत् अर्धमुपयुजति॥
अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, 15 वाँ अध्याय, श्लोक 23-24
3. स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं रयेत्
द्वितीय अधिकरण, 16वाँ अध्याय, श्लोक 8

द्वारा प्रस्तावित राज्य-व्यापार जनता के हित में ही व्यवस्थित किया गया है।

कौटिल्य द्वारा विभिन्न राजकीय व्यापारिक एवं आर्थिक संस्थाओं का जो विधान बताया गया है उसके मुख्यतः दो उद्देश्य हैं—राज्य की आय में वृद्धि एवं उपभोक्ता को संरक्षण। वैधिक व्यापार मे राज्य की सहायता आवश्यक मानी गई है। राज्य द्वारा व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए यातायात तथा सचार-वाहन के साधनो के विकास की ओर ध्यान देना बहुत महत्त्वपूर्ण समझा गया है। चुगी एवं सीमाकर एक तरह से आवश्यक बुराइयाँ समझी गयी है।[1] नदियो के किनारे नाव घाटो की व्यवस्था का भी विधान है। राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वे व्यापारियो की सुविधा के लिए स्थान-स्थान पर विश्रामगृह एव वस्तु-भाण्डारगृहों का निर्माण करें। सम्पूर्ण व्यापार स्वतन्त्र है अर्थात् वस्तु-विशेष या व्यापारी-विशेष के साथ कोई भेदभाव नही बरता गया है।

कौटिल्य ने न केवल आन्तरिक व्यापार के प्रोत्साहन पर जोर दिया, बल्कि विदेशी व्यापार की वृद्धि के लिए भी उन्होंने अनेक विधान बनाए। विदेशी व्यापार इस अर्थ मे उन्मुक्त था कि देश के अन्दर उत्पादित वस्तुओं के व्यापार को विदेशी वस्तुओ की स्पर्धा मे किसी प्रकार की प्राथमिकता या वरीयता नही प्रदान की जाती थी। आयातों को प्रोत्साहित करने के लिये कौटिल्य ने यह प्रस्ताव रखा कि—'विदेश मे उत्पन्न वस्तुओं को राजा सानुग्रह मँगाये। नाविकों एवं विदेशी माल आयात करने वाले व्यापारियों को व्यापार-करो से मुक्ति दी जाय ताकि उनको समुचित लाभ प्राप्त हो सके। विदेश से आने वाले व्यापारियों का लेनदेन बिना सरकारी स्टाम्प के हो जाना चाहिए परन्तु इसके साथ लेनदेन करने वाले 'सभ्य' (देशीय व्यापारी) हो, उनका अभियोग स्टाम्प आदि अवश्य होना चाहिए[2]।' परन्तु कौटिल्य इस बात के बारे में भी सजग थे कि विदेशी व्यापार से लाभ अवश्य होना चाहिए। आयात को प्रोत्साहन देने के साथ ही साथ उन्होने इस बात का भी ध्यान रखा कि निर्यात की गयी वस्तुएँ सलाभ बिकें। 'पण्याध्यक्ष देशी वस्तुओ की तुलना में उन विदेशी वस्तुओं के मूल्य का अनुमान लगाये जो विनिमय में प्राप्त शुल्क, बर्तनी, अतिवाटिका,

---

1. अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, अध्याय 21-22
2. परभूमिजं पण्यमनुग्रहेणावाहयेत्। नाविकसार्थ वहिभ्यश्च परिहारमायतिक्षयं दद्यात्। अभियोगश्चार्थेष्वागन्तूनामन्यत्र सभ्योपकारिभ्यः॥
अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, सोलहवाँ अध्याय, श्लोक 15-17

गुल्मदेय, तरादेय, मक्त (व्यापारी की जीविका) तथा विदेशी राजा के 'भाग' का भुगतान कर देने के बाद कुछ लाभ बचता है कि नही । यदि देशी वस्तुओं को विदेशी बाजार मे बेचने पर कोई लाभ न दिखाई पडे तो इस बात की जाँच करनी चाहिए किसी दूसरी वस्तु को विदेशी बाजार में बेचने से लाभ कमाया जा सकता है कि नही[1] ।' जहाँ लाभ हो वही सामान बेचना चाहिए लाभ रहित स्थान को दूर से ही त्याग देना उचित है ।[2]

आयात-निर्यात को प्रोत्साहित करने की नीति के साथ ही साथ कौटिल्य कुछ वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध आरोपित करते है तथा उनके आयात को विशेष रूप से प्रोत्साहित करते है । उनके अनुसार अस्त्र, शस्त्र, सैन्य-अश्व, पशु एवं अन्न, इन सभी का निर्यात वर्जित है । इन वस्तुओं को उपलब्ध करने पर विशेष महत्त्व दिया गया है जो इस बात से स्पष्ट है कि इन वस्तुओं का आयात निःशुल्क एवं करमुक्त था । विदेशी व्यापार को नियन्त्रित एवं प्रशासित करने का सामान्य सिद्धान्त यह था कि जो वस्तुएँ राज्य तथा जनता के लिये अत्यन्त उपयोगी हों और जिनके निर्यात से हानि पहुँचती हो उनका निर्यात न किया जाये । उन वस्तुओं को प्रोत्साहित किया जाय जो राज्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है । दुर्लभ बीजों आदि का आयात कर से मुक्त होना चाहिये[3] ।

व्यापार की सुविधा के लिये उचित द्रव्य-व्यवस्था एवं नाप-तौल की व्यवस्था की गई थी । कौटिल्य ने द्रव्य के दो प्रमुख कार्य माने है । विनिमय का माध्यम एवं कोष मे धन जमा करने के लिये विधिग्राह्य माध्यम ।[4] यह कहा जाता है कि उस काल मे प्रामाणिक सिक्का स्वर्ण का था अर्थात् मुद्रामान—स्वर्ण मुद्रामान था । पर कौटिल्य के अनुसार प्रामाणिक सिक्का "पण" था जिसको बनाने के लिए

---

1. परविषये तु पण्य प्रतिपण्ययोरर्घमूल्यं चागमय्य शुल्कवर्तन्यातिवाहिकगुल्म-तरदेयभक्त भटिक व्यय शुद्धमुदयं पश्येत् । असत्युदये भाण्डनिर्वहणेमपण्यप्रतिपण्यार्घेण व लाभं पश्येत ।
   अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, सोलहवाँ अध्याय, श्लोक 22-23
2. यतो लाभस्ततो गच्छेदलाभं परिवर्जयेत् । उपर्युक्त अध्याय श्लोक 29
3. राष्ट्रपीडाकरं भाण्डमुच्छिन्द्यात् अफलं च यत् ।
   महोपकारं उच्छुल्कं कुर्यात् बीजं च दुर्लभम् ॥
4. रूपदर्शक पण्याभ्यां व्यावहारिको कोशप्रवेश्या च स्थापयेत् ।
   अधिकरण 2, अध्याय 12, श्लोक 29

चार माशा ताँबा, एक माशा तीक्ष्ण त्रपु-शीशा या अञ्जन और शेष ग्यारह माशा चाँदी का योग आवश्यक है।[1] पर यह कहा जा सकता है कि मुद्रामान स्वर्ण विनिमय मान था क्योंकि अन्य प्रकार के सिक्कों—साकेतिक सिक्को—का मूल्य, स्वर्ण के रूप मे निर्धारित था। साथ ही स्वर्ण एवं चाँदी की विनिमय दर भी निर्धारित थी। "यदि कोई स्वर्णकार सोने की खान से एक माशा सोना चुरा ले तो उस पर 200 पण दण्ड होगा। यदि कोई इतना ही चाँदी चाँदी की खान से चुरा ले तो उस पर 12 पण दण्ड होगा।"[2] इस प्रकार स्वर्ण और चाँदी की विनिमय दर $12 = 200$ या $1 = 16\frac{2}{3}$ हुई। विनिमय की सुविधा के लिए प्रामाणिक सिक्के—पण—के अतिरिक्त छोटे सिक्के अर्धपण (अठन्नी), पादपण (चवन्नी), एवं अष्ठभाग (दुअन्नी) पण के ही अनुपात के धातु मिश्रण से बनायी जाने का विधान है। इसके अलावा कौटिल्य पण के चौथाई भाग के मूल्य के बराबर एक ताँबे के सिक्के की भी व्यवस्था करते है, जिसे माषक कहते है। इसका धातु-मिश्रण ग्यारह माशा ताँबा, चार माशा चाँदी एवं एक माशा लोहे से बना होगा। इसी अनुपात से अर्धमाषक (काकणी) एवं अर्धकाकणी नाम के सिक्को का भी विधान है। इस प्रकार हम देखते है कि विनिमय की सुविधा के लिए चाणक्य ने जिस मुद्रा-व्यवस्था का विधान बनाया है वह मितव्ययी, सुविधाजनक, सरल एव लोचदार है। किसी एक धातु की दुर्लभता होने पर दूसरे धातु के उपयोग से भी सिक्के बनाये जा सकते है। इस बात पर बल नही दिया गया है कि मूल्यवान धातु के सिक्के बनें, पर जो सिक्के बनें वह प्रामाणिक धातु-मिश्रण से ही बने। इस प्रकार जो बल है वह इस बात पर है कि द्रव्य स्वयं मूल्यवान न होकर विनिमय का एक माध्यम है और साथ ही इस माध्यम की प्रामाणिकता पूर्णरूप से विश्वसनीय होनी चाहिए। सिक्को की ढलाई का कार्य सरकार द्वारा नियुक्त स्वर्णकार के हाथ मे है और अपने कर्त्तव्यो से च्युत होने पर उसके लिए विभिन्न प्रकार के दण्डों का विधान बनाया गया है।

कौटिल्य इस दिशा मे भी सजग थे कि व्यापार के विकास के लिए न केवल यातायात के साधनों एवं सुदृढ़ व्यवस्था अपेक्षित है, बल्कि बाँटों एवं मापों

---

1. लक्षणाध्यक्षश्चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसा अञ्जनामन्यतमं माषबीज-युक्तं कारयेत् पणम्। द्वितीय अधिकरण, अध्याय 12, श्लोक 27
2. सुवर्णान्माषकमपहरतो द्विशतो दण्डः। रूप्यधरणा—माषकमाहरतो द्वादशपण: चौथा अधिकरण, अध्याय 1, श्लोक 43-44

की प्रामाणिकता का होना भी आवश्यक है। तौल एवं माप के नियमन एवं निरीक्षण के लिए पौतवाध्यक्ष की व्यवस्था की गयी थी, कौटिल्य द्वारा दी गयी तौलों की व्यवस्था निम्न प्रकार है[1] :—

10 मासबीज या पाँच रत्ती = 1 स्वर्ण माषा
16 स्वर्ण माषा = 1 सुवर्ण या कर्ष
चार कर्ष = 1 पल
88 सरसो के दाने = 1 रूप्य माषा
16 रूप्य माषा = 1 धरण
20 चावल = 1 वज्रधरण (हीरे की तौल)

इसके अलावा अर्धमाशा, दो माशा, चार माशा, आठ माशा, एक सुवर्ण, दो सुवर्ण, चार सुवर्ण, दश सुवर्ण, बीस सुवर्ण, तीस सुवर्ण, चालीस सुवर्ण, और सौ सुवर्ण तक के बाँट बनवाने का विधान है। इसी हिसाब से धरण नामक बाँटों के बनवाने की भी व्यवस्था है।

इसी प्रकार से वस्त्र, भूमि आदि नाप कर बेची जाने वाली वस्तुओं के लिए कौटिल्य ने नाप का भी विधान बनवाया है।[2]

आठ परमाणु = एक धूल की कण (रथ के पहिए द्वारा उड़ाई गयी)
आठ धूलकण = 1 लिक्षा
आठ लिक्षा = 1 यूकामध्य
आठ यूकामध्य = 1 यवमध्य
आठ यवमध्य = 1 अंगुल
4 अंगुल = 1 धनुग्रह
8 अंगुल = 1 धनुर्मुष्टि
12 अंगुल = 1 वितस्ति या छायापौरुष
दो पद = 1 हस्त

---

1. पौतवाध्यक्षः पौतवकर्मान्तान्कारयेत्। धान्यमासा दश सुवर्ण माषकः पञ्च व गुञ्जाः। ते षोडस सुवर्णः कर्षो वा। चतुर्कशः पलम्। अष्टाशीतिर्गौरसर्षपा रुप्यमाषकः। ते षोडश धारणम् शैव्यानि वा विशांति। विशांति तंडुल वज्रधरणम्।

   अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, 19वाँ अध्याय, श्लोक 1-8

2. अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, अध्याय 20

84 अंगुल = 1 व्योम
108 अंगुल = 1 गार्हपत्य धनुष
आदि, आदि

इसी प्रकार से कौटिल्य ने समय आदि के मापमान भी दिए है। इन सब प्रकार के मापों के सरकार द्वारा नियत्रण एवं समय-समय पर निरीक्षण की व्यवस्था है ताकि इनमे निर्माण एवं उपयोग में किसी प्रकार की अनुचित व्यवस्था न हो सके।

इस प्रकार के विस्तृत मापों एवं मानो को लिखित रूप में देने एवं सरकार द्वारा उनके नियन्त्रण की मंत्रणा करने मे कौटिल्य दो प्रकार के उद्देश्यो से प्रभावित थे। सर्वप्रथम तो यह कि व्यापारियों को एव क्रेताओ को किसी प्रकार की असुविधा या कष्ट न हो और कोई एक दूसरे को ठग न सके। इसके अतिरिक्त देश की एकता को सुदृढ बनाने के हेतु यह भी चाहते थे कि पूरे राज्य मे एक ही राजा के अन्तर्गत रहने वाली प्रजा में एक ही प्रकार की मुद्रा, माप तौल एवं मापो का प्रचलन हो। इस सम्बन्ध मे कौटिल्य का यह प्रयास यूरोपीय वाणिज्य-वादी अर्थशास्त्रियों के समान ही पडता है।

## 6—आर्थिक प्रगति के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार

हम पहले ही देख चुके है कि कौटिल्य उत्पादन को अर्थव्यवस्था मे सर्वप्रथम स्थान देते है। उनके विचार मे आर्थिक प्रगति का मुख्य स्रोत उत्पादन वृद्धि ही है। राज्य के हितो को वरीयता अवश्य दी गयी है, पर इस बात की स्पष्ट घोषणा की गयी है कि राज्य की शक्ति भी अर्थव्यवस्था के उत्पादन की मात्रा पर ही निर्भर रहती है, कौटिल्य की दृष्टि मे भूमि, जनसंख्या एवं पूंजी ये सभी उत्पादन के प्रमुख साधन होने के कारण आर्थिक प्रगति के कारक है। इन सभी की उपलब्धि, वृद्धि, सरक्षण एवं उपयोग के सम्बन्ध मे कौटिल्य ने व्यवस्थाएँ बनायी हैं। व्यवसायो मे कृषि का ही स्थान सर्वोपरि है और उसी की उन्नति से अर्थव्यवस्था की प्रगति सम्भव है।

(1) **भूमि**—कृषि की प्रधानता होने के कारण यह स्वाभाविक है कि भूमि की व्यवस्था एव सुधार पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है, भूमि ही राज्य की आय का सबसे बडा स्रोत भी थी[1]। अर्थशास्त्र की परिभाषा मे ही यह स्पष्ट

---

1. देखिये अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, अध्याय 1, 2, 5, 15, 16, 17, 21, 22, 24, 26, 29, 30, 31

है कि इसका सीधा सम्बन्ध भूमि की प्राप्ति एवं उपयोगों से है। अर्थशास्त्र मे हमे वर्षा, नदी, नहर, तालाब तथा यंत्रों से सिंचाई, उर्वरकों, के उपयोग, फसलों के हेर-फेर, भूमि के अनुसार फसल बोना और भूमि को फसल के उपयुक्त बनाना, गहन एवं विस्तृत कृषि के सापेक्षिक लाभ, भूमि के टुकड़े होने की हानियों, कृषकों को ही भूमि का स्वामी बनाना आदि बातों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। स्पष्ट है कि ये सभी भूमि के संरक्षण एवं उत्पादन की वृद्धि के हेतु बनाये गये विधान है। कौटिल्य ने किस प्रकार कृषि के संरक्षण के लिए, कृषि के उत्पादन पर बुरा प्रभाव डालने वाले तत्त्वो एवं व्यक्तियों का ग्राम से बहिष्कार करने की नीति अपनायी यह उनके निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है—

"नट, नर्तक, गायक, वादक तथा अन्य वाणी से जीविका करने वाले तथा कथावाचक कृषिकार्यो मे विघ्नकारी कर्म न करे। इनमे उपद्रव करा देने की शक्ति होती है। गाँवों मे नाट्यशाला आदि भोग-सामग्री के न होने से प्रत्येक जन अपने कृषि कार्यो मे लगा रहेगा। इसी से कोष, द्रव्य, धान्य रस की वृद्धि एवं कठिन श्रमसाध्य कर्म होते रहते है[2]।" कहने का तात्पर्य यह है कि कौटिल्य का यह मत है कि राज्य तथा समाज द्वारा हर कार्य कृषि की समृद्धि के हेतु करना चाहिये। बेकार पड़ी हुई भूमि को जोत के अन्तर्गत लाना चाहिए[3]। कृषि न करने वाले भूमिपतियों की संख्या मे कमी होनी चाहिए[4]। इस प्रकार हम देखते है कि कौटिल्य ने भूमि के उपयोग उपजाऊपन[5] एवं संवर्धन के लिए हर प्रकार

---

1. पृथिव्या लाभे पालने च.......इत्यादि, प्रथम अधिकरण, प्रथम अध्याय, प्रथम श्लोक

2. नट नर्तनगायनवादक वाग्जीवनकुशीलवा वा न कर्मविघ्नं कुर्वः।
निराश्रयत्वाद् ग्रामाणां क्षेत्राभिरतत्वाच्च पुरुषाणा कौशविष्टिद्रव्य धान्यरस वृद्धिभवतीत्ति।

**अर्थशास्त्र** द्वितीय अधिकरण, अध्याय 1 श्लोक 42-43

3. करदेभ्यः कृतक्षेत्राणि एकपुरुषिकाणि प्रयच्छेत्। अकृतानि कर्त्तृभ्यो न देयात्।
**अर्थशास्त्र** द्वितीय अधिकरण, प्रथम अध्याय।

4. अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत्।
अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, प्रथम अध्याय, श्लोक 12

5. सप्तम अधिकरण, 11 वां अध्याय।

के साधनों एवं विधानों की व्यवस्था की है जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वे अर्थ-व्यवस्था मे भूमि की प्रधानता देते थे ।

(2) **जन-सख्या**—भूमि के साथ ही उस पर कार्य करने वाले श्रमिको का भी यथार्थ मे तथा उचित प्रकार का होना आवश्यक है । कौटिल्य ने श्रम की महत्ता को भलीभाँति माना है । यह इस बात से स्पष्ट है कि वे श्रम के शोषण, कम वेतन एवं अधिक कार्य के विरुद्ध विधान की व्यवस्था करते है[1] । यह निस्सन्देह सत्य है कि श्रमिक वर्ग का मुख्य भाग वैश्य एवं शूद्र वर्ग से ही आता है, पर ये दोनो वर्ग मिलकर समाज का एक बहुत बडा भाग बन जाते है ।

कौटिल्य या किसी भी प्राचीन भारतीय विचारक के मस्तिष्क मे जनसंख्या के सम्बन्ध मे माल्थस के समान भय नही प्रतीत होता । विस्तृत बंजर भूमि के होते हुए उन्हें जनसख्या की वृद्धि पर कोई आपत्ति नही थी । इसके विपरीत वे इस बात के पक्ष मे थे कि देश की जनशक्ति मे यथासम्भव वृद्धि हो । कौटिल्य इस परम्परागत मत के विरुद्ध है कि थोडे से बलशाली लोग अधिक उपयुक्त है । उनका कहना है कि, 'बहुत से हाथी यदि अशक्त हो तब भी राज्य के कल्याण मे समर्थ हो सकते है........बहुत से अशिक्षित हाथियो को सिखा-पढाकर शूरवीर बनाया जा सकता है, पर थोडे हाथियो की सख्या को बहुत नही बनाया जा सकता है[2] ।' इसी कारण कौटिल्य जनसख्या मे वृद्धि के पक्ष मे है । उन्होने पति-पत्नी के यौन सम्बन्धो के बारे में जो नियम बनाए है वे इस बात के साक्षी है कि वे जनशक्ति के विकास पर बहुत अधिक बल देते थे । स्त्री के ऋतुकाल में यदि पुरुष गमन न करे तो पुरुष पर कौटिल्य ने बहुत ऊँचे (96 पण) दण्ड की व्यवस्था की है[3] । "भार्या पुत्रोत्पत्ति की लालसा से कोढ़ी या पागल मनुष्य के साथ भी सम्भोग कर सकती है[4] ।" इस प्रकार की उक्तियाँ किसी भी प्रकार से जनसंख्या की वृद्धि का समर्थन करती है ।

पर साथ ही यह कहना भी त्रुटिपूर्ण होगा कि कौटिल्य ने जनसंख्या की मात्रा पर अधिक और उसके गुणो एवं स्तर पर कम ध्यान दिया । कौटिल्य यह भी चाहते थे कि समस्त लोगो को स्वास्थ्यवर्धक भोजन पर्याप्त मात्रा मे मिले ।

---

1. तृतीय अधिकरण, अध्याय 13
2. सप्तम अधिकरण, अध्याय 11
3 तीर्थगूहनानमने पणणवतिर्दण्ड । तृतीय अधिकरण, अध्याय 2, श्लोक 55
4. स्त्री तु पुत्रार्थमेवभूतं वोपगच्छेत । तृतीय अधिकरण, अध्याय 2, श्लोक 58

वे जानते थे कि मनुष्य धन का साधन एवं उद्देश्य दोनों है। कौटिल्य के अनुसार "लगातार शुद्ध किया गया अखण्ड एक सेर चावल, चौथाई भाग दाल, दाल का सोलहवाँ भाग नामक, दाल के पानी का चौथा भाग घृत एक योग्य पुरुष का भोजन होता है। इसका तीन चौथाई स्त्रियों के लिए तथा आधा बच्चों के लिए उपयुक्त भोजन है[1]। इस प्रकार कौटिल्य ने संख्या के साथ ही मनुष्यों के शक्तिवान एवं कुशल होने का भी समर्थन किया है।

(3) **पूँजी**—"अर्थशास्त्र" के अनुसार राज्य कार्य, निर्माण कार्य, व्यापार, कृषि सुधार, आदि कार्यो मे पूंजी का, उत्पादन के एक साधन के रूप मे, बड़ा महत्त्व है। जहाँ तक पूँजी के स्रोत का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि भूमि एवं कृषि का व्यवसाय ही मुख्यतः अतिरेक का उत्पादक माना गया है, और पूंजी-निर्माण का मुख्य मार्ग है, राज्य द्वारा इस व्यवसाय से पर्याप्त मात्रा में कर लिया जाना। कौटिल्य यह जानते थे कि द्रव्य के प्रचलन मे विकास हो जाने से अपव्यय के अवसर अधिक उत्पन्न होते है इसीलिए उन्होने इस बात का प्रस्ताव किया कि आन्तरिक व्यापार अधिकांश वस्तु-विनिमय के ही आधार पर किया जाय। इसके अलावा वे राजा द्वारा कर के रूप मे ली गयी पूंजी के अपव्यय से भी शकित थे अतः उन्होने अपव्ययी राजा (अत्यासन्न राजनः) को कृषि के छः शत्रुओ मे से एक बताया। बचत एवं पूंजी की वृद्धि के अभियान के ही अन्तर्गत कौटिल्य ने विलासिताओं के उपभोग पर अवरोध लगाने का भी विधान बनाया। उनके अनुसार रेशमी कपड़े, शराब, हाथी दाँत, ऊनी वस्त्र आदि पर तो 6 प्रतिशत से लेकर 10 प्रतिशत तक कर लगना चाहिये, पर साधारण वस्त्र, नमक, तेल, लकडी, पका अन्न आदि पर केवल 4 से लेकर 5 प्रतिशत ही कर लगना चाहिये।[2] यह तथ्य कि कौटिल्य ने धार्मिक विचारकों के विपरीत ब्याज लेने

---

1. अखण्ड परिशुद्धानां व ताण्डुलाना प्रस्थं चतुर्भागः सूपः सूपशोडयो लवणस्यौशं चतुर्भागः सर्पिषः तैलस्य वा एकमार्चभक्तम्। पादोनं स्त्रीणाम्। अर्ध बालानाम्।
   द्वितीय अधिकरण, अध्याय 15, श्लोक 61-65।
   पुरुष, स्त्री एवं बच्चो के भोजन की आवश्यकता के बारे मे आधुनिक विचारक Rowntree आदि के भी यही मत है। Ct. Rowntree Human Needs Labour, 1918.

2 अर्थशास्त्र; दूसरा अधिकरण, अध्याय 22

और देने को औचित्यपूर्ण कार्य बतलाया, इस बात का द्योतक है कि वे उत्पादन में पूंजी के महत्त्व को मान्यता देते थे। इसके साथ ही उन्होंने विभिन्न उपयोग के लिए ली गयी पूंजी पर विभिन्न दर पर ब्याज निर्धारित किया जिससे यह ज्ञात होता है कि वे विभिन्न व्यवसायो में पूंजी की उत्पादकता के प्रति भी सजग थे।

"सवा पण प्रतिशत प्रतिमास ब्याज औचित्यपूर्ण है। व्यापार के लिए दी गयी पूंजी पर पांच पण प्रतिशत ब्याज ठीक है। अन्य-व्यवसायों पर दस पण प्रतिशत प्रतिमास ब्याज है। समुद्र द्वारा विदेश में व्यापार करने वालों से बीस पण प्रतिशत प्रतिमास ब्याज लिया जाना चाहिये।[1]

## 7—व्यक्तिगत आयों का निर्धारण

यह कहना सत्यता से दूर होगा कि प्राचीन भारत में आर्थिक असमानता नहीं थी। कौटिल्य के समय तक वर्ण-व्यवस्था एवं उस पर आधारित सम्पत्ति-अधिकार पर्याप्त सीमा तक विकसित हो चुके थे और इसी के फलस्वरूप आर्थिक असमानताओं का अस्तित्व भी अवश्यम्भावी था। सम्भवत: इन्ही असमानताओं की वृद्धि को रोकने के लिए कौटिल्य को इस बात की घोषणा करनी पडी हो कि भूमि पर उसका अधिकार न रहे जो उसे जोतता नही, और हर व्यवसाय के लिए आय निर्धारित होनी चाहिए। सामान्यत यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने धन के वितरण के लिए दो सिद्धान्तो को ध्यान में रखा; व्यक्तियो की आवश्यकताएँ एवं उनकी उत्पादकता। नीचे हम इन सिद्धान्तो के उपयोग की संक्षिप्त व्याख्या करेंगे।

भूमि के लगान के सम्बन्ध मे यहाँ पर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि कौटिल्य ने सर्वप्रथम विभिन्न प्रकार की भूमि के सापेक्षिक लाभो का विस्तृत वर्णन किया है। उनके अनुसार यदि कम उपजाऊ अधिक एव अधिक उपजाऊ थोड़ी-सी भूमि में से एक को चुनना हो तो अधिक उपजाऊ कम भूमि को ही चुनना चाहिये।[2] इस प्रकार भूमि की उत्पादकता पर, न कि विस्तार पर, अधिक बल दिया गया है। इसी प्रकार उनका कहना है कि दूर एव समीप की भूमि मे से समीप ही

---

1. सपादयण धर्म्मा मास वृद्धि पणशतस्य। पचपणा व्यावहारिकी। दसपणा कान्तारकाणाम्। विंशतिपणा सामुद्राणाम्। तृतीय अधिकरण, दशवाँ अध्याय, श्लोक 1-4

2. अधिकरण 7, अध्याय 11

की भूमि का चुनाव करना चाहिये ।[1] इस प्रकार कौटिल्य भूमि की उत्पादकता एवं (बाजार से) समीपता इन दोनों तत्त्वों को भूमि के गुण मानते है और इसी के अनुसार लगान का निर्धारण भी करते हैं। यह स्पष्ट है कि चूंकि "अर्थशास्त्र" मे किसी ऐसे भूमिपति के अस्तित्व की व्यवस्था नही है जो कि भूमि को स्वयं न जोतकर लगान पर दे देता हो, जमीदारो द्वारा लगान लिए जाने का प्रश्न नही उठता। चाणक्य के अनुसार राज्य को आधा अनाज कृषक से ले लेना चाहिये। यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब लगान ही के रूप मे हैं क्योंकि इसमे से बहुत बड़ा भाग अकाल आदि से सुरक्षा के लिए भी संचित रखा जाता हैं। इतना स्पष्ट है कि लगान, भूमि की मात्रा पर ही नही लिया जाता था। इस सम्बन्ध मे कौटलीय नीति आधुनिक प्रणाली से अधिक विवेकपूर्ण थी क्योंकि उन्होंने लगान को उत्पादन के अनुपात ही मे लेने की व्यवस्था की।

ब्याज के निर्धारण के बारे मे हम पहले ही कुछ कह आये है और इसके सम्बन्ध मे भी यही बात सिद्ध होती है कि विभिन्न व्यवसायो की उत्पादकता के अनुपात ही मे ब्याज की भिन्न-भिन्न दरों का "अर्थशास्त्र" मे विधान है।

मजदूरी के सम्बन्ध मे कौटिल्य का विचार है कि "मजदूरी किये गये कार्य का पारिश्रमिक हैं।"[2] कम काम करने पर अधिक मजदूरी मिलने का प्रश्न केवल तभी उठता है जब कि मालिक स्वयं कार्य को पूरा न होने दे। प्राचीन आचार्यों का यह मत था यदि मजदूर अपनी नौकरी पर उपस्थित हो जावे और किसी कारणवश उससे काम न लिया जावे, तो उसे वेतन मिल जाना चाहिये। इस प्रकार उनके मजदूरी के विचार सामाजिक न्याय के सिद्धान्त पर आधारित प्रतीत होते है। पर कौटिल्य ने इस बात को स्वीकार नही किया और किये गये कार्य को ही मजदूरी का आधार माना। दूसरी ओर कौटिल्य ने काम पूरा न होने पर तो मजदूरी के काटे जाने की व्यवस्था की, पर यदि अधिक कार्य कर लिया जावे तो अतिरिक्त मजदूरी की व्यवस्था नही की।[3] इस प्रकार इनका मजदूरी का सिद्धान्त स्वयं अपने मे भी अधूरा ही रहा।

---

1. अधिकरण 7, अध्याय 10
2. कृतस्य वेतनं नाकृतस्यास्ति। तृतीय अधिकरण, अध्याय 14, श्लोक 10
   साक्षिणामभावे यतः कर्म ततो नु युक्ति। तृतीय अधि०, अध्याय 13, श्लोक 4
3. संभाषितादधिक क्रियाया प्रयास मोघ कुर्यात् ॥
   उपर्युक्त अध्याय, श्लोक 13

कौटिल्य ने मजदूरों एवं दासों के लिए जो व्यवस्था बनाई वह समानता के सिद्धान्त के अनुसार औचित्यपूर्ण नही प्रतीत होती। यदि नौकर वेतन लेकर कार्य न कर सके तो उस पर बारह पण दण्ड होगा।[1] पर यदि भर्ता काम करवा कर वेतन न दे तो उस पर केवल 6 पण के दण्ड की व्यवस्था है।[2] यदि नौकर काम पर से भाग जाय तो उसे जेल की सजा होगी, पर मालिक को नौकर को निकाल देने पर दण्ड तभी होगा जब कि इस बारे में पहले ही कोई वैध संविदा हुआ हो और तब भी यह दण्ड केवल छः पण होगा। इस प्रकार कौटिल्य ने मजदूरी एव कार्य के नियमो के सम्बन्ध मे मजदूर एवं मालिक को बराबरी के स्तर पर नही रखा। इस का कारण शायद यह रहा हो कि मजदूर वर्ग में केवल निम्न वर्ण के ही लोग थे और मालिको मे उच्च वर्ण के लोग थे। उच्च वर्ण के लोगो को कई प्रकार के दण्डो से मुक्ति मिली थी। इस प्रकार सामाजिक असमान-ताओ एव भेदभाव की धारणा, आर्थिक क्षेत्र मे भी ज्यों की त्यों उतर गयी और प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधाराओ मे एक कलंक बन कर रह गयी। जिन मजदूर सघों की कौटिल्य ने व्यवस्था की है वे भी एक प्रकार से राज्य के ही एक अंग थे और मजदूरी के सम्बन्ध मे उनका कोई हाथ हो यह बात प्रतीत नही होती। असल मे कौटिल्य इस मत के थे कि मनुष्यो की आदत घोड़ों ऐसी होती है और वे काम पर लग जाने पर उछल-कूद मचाने लगते है। इसलिए उन पर नियंत्रण रखना चाहिए।[3]

### 8—राजकीय आय-व्यय

यह स्पष्ट है कि कौटिलीय अर्थव्यवस्था राज्यप्रधान थी। राजकीय क्षेत्र तो काफी बडा था ही शेष आर्थिक क्षेत्र मे भी राज्य का हस्तक्षेप एवं नियंत्रण रहता था। आर्थिक व्यवस्था का शायद ही कोई अग ऐसा हो जो राज्य के हस्त-क्षेप से अछूता रहा हो। इसी के अनुसार राज्य के व्ययो की मदे भी अनेक थी। सेना का व्यय प्रमुख था। राज्य कर्मचारियो की संख्या आज के नौकरशाही युग

---

1. गृहीत्वा वेतन कर्माकुर्वतो भृतकस्य द्वादशपणो दण्ड.,
   तृतीय अधिकरण, अध्याय 14, श्लोक 1
2. वेतनादाने दशबन्ध. दण्ड. षट्पणो वा।
   अधिकरण 3, अध्याय 13, श्लोक 45
3. अश्वधर्माण हि मनुष्या नियुक्ता. कर्मसु विकुर्वते।
   अधिकरण 2, अध्याय 3, श्लोक 4

से किसी प्रकार कम न थी, उनके वेतन में राजकीय आय का एक बहुत बड़ा भाग खर्च होता था। सेना शायद सबसे अधिक वेतनवाला व्यवसाय था। कौटिल्य ने एक साधारण श्रमिक की मजदूरी 60 पण निर्धारित की है, पर एक पाद-सैनिक का वेतन 500 पण था। एक जनरल का वेतन लगभग 50,000 पण निर्धारित था। राज्य की आय के व्यय के सम्बन्ध मे राज्य की सत्ता के संरक्षण के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धान्त का पालन नही किया गया है। निस्सन्देह कौटिल्य ने इस बात की ओर अवश्य सकेत किया है कि यदि राज्य उत्पादक एवं लाभकारी कार्यो मे कम व्यय करेगा तो बाद मे पछताना पडेगा। पर किसी कार्य का लाभ या उत्पादकता शायद इसी बात से निर्धारित होती है कि वह कार्य राज्य के लिए कितना महत्त्वपूर्ण है ?

राज्य की आय का सबसे बड़ा स्रोत कर एवं जुर्माना है। करों में भी मुख्यतया कृषि एवं भूमि कर ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि प्रो० कौशाम्बी ने इंगित किया है जुर्मानो की संख्या इतनी अधिक है कि श्री शाम-शास्त्री द्वारा किये गये "अर्थशास्त्र" के अंग्रेजी अनुवाद की अनुक्रमणिका में 9 स्तम्भ से भी अधिक मे इनकी सूची अंकित है। इसके अलावा राज्य को राजकीय संस्थानों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विक्रय से भी पर्याप्त आय प्राप्त हो जाती थी।

कौटिल्य द्वारा छः प्रकार के कर बताये गए है—सीता या कृषि भाग, बलि (उपहार आदि), कर (फल वृक्ष आदि का कर), वणिक नदी पार का कर, रज्जू (भूमि के अन्य कर), चोर रज्जू (चोरो से प्राप्त धन)[1] इसके अलावा मूल, भाग, व्याजी, परिधे, बन्लृप्त, रूपिक, अत्यय ये भी राजा की आमदनी के स्रोत हैं।[2] तेल, नमक एवं खनिज मे राज्य का एकाधिकार था और ये तीनों आय के बहुत बड़े-बड़े स्रोत है।[3]

जहाँ तक करारोपण में अपनाये गए सिद्धान्तों का प्रश्न है, हम आधुनिक अर्थशास्त्रियों की ही भाँति विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख पाते है। वास्तव में ये करारोपण के सिद्धान्त (Principles) न होकर करों के नियम (Canons) थे।

---

1. सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पट्टनं विवीतं बर्तनी रज्जू चोररज्जूश्च राष्ट्रम्। द्वितीय अधि०, अध्याय 6, श्लोक 3
2. वही, अध्याय 6, श्लोक 10
3. वही, अध्याय 12।

कौटिल्य यह राय देते है कि कृषि मे लगे करों को तभी लेना चाहिए जब फसल पकी हो।[1] इस प्रकार हमे इसमे सुविधा का नियम (Canon of Convenience) मिलता है। निश्चितता के नियम (Canon of Certainty) पालन के लिये हर कर या देय की दर राज्य द्वारा निर्धारित है और हर अधिकारी के ऊपर कड़ी निगरानी रखी जाती है। कौटिल्य का कथन है, "जो थोड़ी आमदनी और व्यय अधिक दिखाता है, वह राज्य के धन का अपहरण करता है या प्रजा को पीडित करता है। जो आय-व्यय बराबर दिखाता है, वह राजकीय धन का गबन तो नही करता पर रिश्वत लेता है, जो राजा के नियत कर से कम देता है तो वह राज्य के धन का अपहरण करता है।[1] ये कथन इस बात पर बल देते है कि प्रजा से जितना धन लिया जाय वह सभी राजकोष मे जमा हो और प्रजा से उतना ही कर लिया जाय जितना कि राज्य द्वारा निर्धारित हो। कौटिल्य अपव्ययिता के सदा विरोध मे रहे है। यह उनके उपर्युक्त एव अन्य कथनों से स्पष्ट प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने करो मे समानता के सिद्धान्त का समावेश करने की ओर तनिक भी ध्यान नही दिया। यह तथ्य उनके सामान्य विचारो के लगभग अनुकूल ही पड़ता है। पर हाँ, इस बात का ध्यान उन्होंने अवश्य रखा कि कर उन्ही लोगों से लिया जाय जो कि उसको देने मे समर्थ है।

कौटिल्य के अधिकाश कर उत्पादकता के सिद्धान्त पर आधारित थे, विशेषकर भूमि कर, जो कि सबसे महत्त्वपूर्ण कर था, भूमि की उपज के अनुपात मे लिया जाता था। आयात-निर्यात कर भी मूल्यानुसार लिए जाते थे। इसी प्रकार क्रय-विक्रय कर भी वस्तुओ के मूल्य के ही अनुसार थे। तात्पर्य यह है कि कर-व्यवस्था मे पर्याप्त लोच (Elasticity) थी और यह कर-देय क्षमता (ability to pay) के सिद्धान्त पर आधारित थी।

## उपसंहार

कौटिल्य के विचारो का उपरोक्त विवरण देने के पश्चात् हम उनकी तुलना कुछ पाश्चात्य एवं प्राच्य विचारको से करने का प्रयत्न करते है।

सर्वप्रथम कौटिल्य मे कुछ ऐसे तत्त्वो की प्रधानता का पुट मिलता है जो हमे इस बात के लिए प्रेरित करता है कि हम उनका स्थान यूरोपीय वणिग्वादियों

---

1 पक्वं पक्वमिवारावात् फल राज्यादवाप्नुयात्।
आत्मच्छेद भयादानं वर्जयेत् कोपकारकम्। अधिकरण 5, अध्याय 2,82

2 अधिकरण 2, अध्याय 9, श्लोक 12-15

के समकक्ष भारतीय वणिग्वाद के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करें। मुख्यतः कौटिल्य ने राज्य की प्रभुता, संरक्षण एवं सर्वव्यापी हस्तक्षेप की जो नीति अपनायी है वह लगभग यूरोपीय वणिग्वादियों के ही अनुरूप पडती है। प्रो० हेक्सर[1] ने इस व्यवस्था के संस्थापकों के विचारों को पाँच भागो मे बाँट कर वर्णित किया है—(1) एकीकरण, (2) शक्ति-व्यवस्था, (3) संरक्षण, (4) द्रव्य-व्यवस्था एवं (5) सामाजिक व्यवस्था। इन्ही पाँच भागों के अन्तर्गत हम कौटिल्य के विचारों का सर्वेक्षण करते हैं।

(1) **एकीकरण नीति**—वणिग्वादी विचारकों की भाँति ही कौटिल्य-नीति इस बात पर अत्यधिक जोर देती है कि देश मे एक ही संप्रभु साम्राज्य हो, उसकी अर्थ-व्यवस्था सुसंगठित एवं केन्द्रीकृत हो। कौटिल्य बहुत अधिक सीमा तक इस उद्देश्य में भी सफल रहे। उन्होंने विभिन्न छोटे-छोटे राज्यो को मिलाकर सर्वप्रथम विघटित भारत मे एकछत्र मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। इसके सुचारु रूप से प्रशासन सम्पन्न करने हेतु उन्होने पूरे राज्य के लिए वणिग्वादियों की ही तरह एक ही कर व्यवस्था, एक द्रव्य-व्यवस्था एवं माप व तौल व्यवस्था का निर्धारण किया। यह सब नीतियाँ विभिन्न व्यवस्थाओ के अस्तित्व को मिटाकर एकछत्र साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने मे पूर्ण रूप से सहायक होंगी यह कौटिल्य का विचार था। राज्यान्तर्गत चुंगीकर एवं सीमाकरों को कौटिल्य केवल आवश्यक बुराइयों के रूप मे ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वणिग्वादियों की ही भाँति "अर्थशास्त्र" की नीति देश के विघटन के विरुद्ध एवं एकीकरण के पक्ष मे निर्धारित की गयी है।

(2) **शक्ति व्यवस्था**—कौटिल्य ने सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य राज्य की शक्ति में वृद्धि करना समझा। उनका विश्वास था कि आर्थिक रूप से समृद्धिशाली राज्य ही राजनीतिक रूप से दृढ एवं सैनिक दृष्टिकोण से प्रभुतापूर्ण हो सकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कौटिल्य ने यह विधान बनाया कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का राज्य के हित मे अपहरण भी किया जा सकता है। सैन्य व्यय, सामान्य व्यय से अधिक होगा। विशिष्ट प्रकार के महत्त्वपूर्ण उद्योगों जैसे खानों, तेल एवं व्यापार पर राज्य का एकाधिकार रहेगा। चूंकि हाथी सेना के मुख्य अंग है इसलिए हाथी की रक्षा एवं शक्ति के हित मे कौटिल्य ने हाथी मारने वाले के लिए मृत्युदण्ड का विधान बनाया है। इस प्रकार कौटिल्य की

1. Heckser, E. F. Mercantilism, Vols. I & II.

आर्थिक नीतियो मे वणिग्वादी अर्थशास्त्रियो की ही भाँति राज्य की शक्ति के संरक्षण एवं वृद्धि का उद्देश्य निहित है।

(3) **सरक्षण**—कौटिल्य की संरक्षण की नीति वणिग्वादी अर्थशास्त्रियों से भिन्न अवश्य है, लेकिन लाभ की प्रधानता आदि तत्त्व यहाँ भी मिलते ही है। कौटिल्य ने व्यापार के सम्बन्ध मे कहा है कि चीजे जहाँ पैदा हों वहाँ न बेची जावें, लाभ प्राप्ति के लिए सुदूर स्थानो में उन्हे ले जाया जावे, जहाँ लाभ न मिलता हो वहाँ उन्हे कदापि न बेचा जावे। इसके अलावा राष्ट्रीय हित में उन्होने कई वस्तुओ के उत्पादन को संरक्षण प्रदान करने एवं निर्यात करने की संस्तुति की है, उदाहरणार्थ, खनिज पदार्थ, सैन्य एवं युद्ध सामग्री एवं खाद्यान्न।

(4) **द्रव्य-व्यवस्था**—कौटिल्य की अर्थ-व्यवस्था को वणिग्वादी अर्थव्यवस्था की भाँति एक द्रव्य-व्यवस्था के रूप मे नही माना जा सकता। कौटिल्य के लिए द्रव्य एक विनिमय का साधन मात्र है, स्वयं उपयोगी या मूल्यवान नही। वास्तव मे कौटिल्य ने अधिक बल वस्तुओ के भौतिक रूप पर दिया है, उनके द्राव्यिक मूल्य पर नही।

(5) **सामाजिक व्यवस्था**—कौटिल्य की व्यवस्था एक स्वस्थ, सुसंगठित सामाजिक व्यवस्था है पर इसका रूप वणिग्वादी अर्थ-व्यवस्था मे भिन्न है। क्योकि जहाँ वणिग्वादी अर्थ-व्यवस्था मे स्तरीकरण (Stratification) विदेशी व्यापार से लाभ से सामीप्य या दूरस्थता पर निर्भर है, "अर्थशास्त्र" की सामाजिक व्यवस्था का स्तरीकरण वर्ण-व्यवस्था मे विद्यमान है। विभिन्न वर्गो मे भेद कुछ वर्गों को दूसरे से अधिक उत्पादक एवं महत्त्वपूर्ण मानने की प्रवृत्ति इन दोनो व्यवस्थाओं मे पायी जाती है। इसके अतिरिक्त दोनों व्यवस्थाओ मे नैतिकता एवं धार्मिकता के सम्बन्ध में लगभग समान दृष्टिकोण मिलता है। ये दोनो व्यवस्थाएँ न तो नैतिक या धार्मिक आधार पर टिकी है और न अनैतिक एव धर्मविरोधी आधार पर ही। इन दोनो दृष्टिकोणो के प्रति यूरोपीय "वणिग्वाद" और "अर्थशास्त्र" दोनो तटस्थ है।[1]

इस प्रकार हम देखते है कि मुख्य रूप से "अर्थशास्त्र" के उद्देश्य वणिग्वादी उद्देश्य होते हुए भी "अर्थशास्त्र" के पूरे विस्तार को भारतीय वणिग्वादी के रूप में लेने में कुछ शंका होती है क्योकि इन दोनो व्यवस्थाओ के अन्तर भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। वणिग्वादियो के विपरीत एव ब्रिटिश सस्थापकवादियो स्मिथ

1. प्रो० हेक्सर ने ऐसी स्थिति को 'amoral' की संज्ञा दी है।

एवं रिकार्डो के अनुरूप "अर्थशास्त्र" सदैव उत्पादन-पक्ष पर अधिक और "विनिमय" पर कम जोर देता है। समाज में कार्यो का विभाजन, आय का वितरण एवं कृषि की प्रधानता, "अर्थशास्त्र" को वणिग्वाद से दूर एवं फ्रेञ्च अधिभूतवाद (फिजियोक्रेसी) के अधिक समीप ला देती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि "अर्थशास्त्र" में कई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य एवं नीतियाँ वणिग्वादियों के अनुरूप ही है पर उसके हर अंग को समकक्ष नही रखा जा सकता।

दूसरी ओर कुछ लोगों का यह भी कहना है कि कौटिल्य ने राज्य को अत्यधिक प्रधानता देकर राज्य-समाजवाद की अर्थव्यवस्था का चित्रण किया है। वास्तव में प्राचीन भारत में कौटिल्य आदि विचारकों ने राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में कार्य एवं हस्तक्षेप की संस्तुति तो अवश्य की थी, परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं आर्थिक स्वतंत्रता के तत्व सदैव मूल मे रहे और समाजवाद की धारणा का कोई अस्तित्व दृष्टिगोचर नही होता। राज्य के हस्तक्षेप, राजकीय आर्थिक क्षेत्र एवं उत्पादन के आयोजन आदि के साथ निजी सम्पत्ति के अधिकार एवं आर्थिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के योग से "अर्थशास्त्र" मे जिस आर्थिक व्यवस्था का चित्रण मिलता है, वह वर्तमान भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था के अधिक समीप है, पूंजीवाद या समाजवाद की धारणा के नही। कौटिल्य में आज की व्यवस्था की अपेक्षा अधिक विस्तारसहित राजकीय हस्तक्षेपों का विवरण अवश्य दिया गया है।

इस स्थान पर संक्षेप मे कौटिल्य की उनके पूर्ववर्ती विचारक कन्फ्यूशियस (552 ई० पू०-479 ई० पू०) से तुलना करना संदर्भरहित न होगा। कौटिल्य की ही भाँति कन्फ्यूशियस ने चाऊ सम्राट के समर्थन मे विभिन्न राज्यों के एकीकरण का बीड़ा उठाया था[1]। छठी सदी ईसा पूर्व मे चीन की राजनीतिक स्थिति लगभग उसी प्रकार थी जैसी कि कौटिल्य के समय मे भारत की थी। लौह-युग का प्रादुर्भाव हो चुका था, सामन्तवाद पूरी तरह से विकसित होकर पतनोन्मुख दिशा मे था। छोटे-छोटे राज्यो मे पारस्परिक कलहो का बाहुल्य था[2]। ऐसी

---

1. Needham, J. Science and Civilization in China, Vol. I, P. 95.
2. Needham, J. Science and Civilization in China, Vol. II, P. 3

स्थिति में कन्फ्यूशियस ने चाऊ सम्राट् की सहायता से लगभग वही किया जो कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त की सहायता से भारत में किया।

जिस प्रकार कौटिल्य के समय तक भारत में वैदिक धार्मिक विचारों का महत्त्वपूर्ण रूप से छाया हुआ था उसी प्रकार छठी सदी ईसा पूर्व में चीन मे "दर्शन के सौ समुदायों" का बोल-बाला था। कन्फ्यूशियस ने इनके विरुद्ध अपनी विचारधारा की स्थापना की। कन्फ्यूशियस की विचारधारा मे हमे कौटिल्य की ही भाँति "इह-लौकिक सामाजिकता" का प्राधान्य मिलता है[1], पर दूसरी ओर उन्होंने चाणक्य के विपरीत कृषि-ज्ञान की अपेक्षा अच्छी परम्पराओ, औचित्य एवं सत्य के अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया। इस प्रकार वह आदर्शवाद से भिन्न होकर भौतिकवाद की धरती पर कदम भी न रख सके।

इस प्रकार विभिन्न विचारको से कई क्षेत्रो में समानता होते हुए भी कौटिल्य को किसी एक सम्प्रदाय के समकक्ष नही रखा जा सकता। उनका स्वयं अपना स्वतंत्र स्थान है। कौटिल्य भारतीय आर्थिक विचारों के आकाश मे डेढ हजार वर्ष की दूरी के बीच चमकता हुआ एकाकी सितारा है, उसकी अपनी विचारधारा और अपना "अर्थशास्त्र" है। एक ही बात सत्य है कि वह "भारतीय" है। अन्त मे "अर्थशास्त्र" की कुछ प्रमुख आर्थिक विचारधाराओं का यहाँ पर संक्षिप्त मे उल्लेख किया जा सकता है। कौटिल्य के विचारो में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान हम उनकी इस मान्यता को देगे कि अर्थव्यवस्था ही राष्ट्र का मेरुदण्ड है। राजनीतिक व सामरिक दृष्टिकोण से शक्तिशाली होना किसी भी राष्ट्र के लिए आवश्यक है। पर कौटिल्य के अनुसार इसके लिये आर्थिक रूप से सम्पन्न होना आवश्यक है। शास्त्रीय अध्ययन के दृष्टिकोण से कौटिल्य की मुख्य देन कोरी नैतिकता को व्यावहारिक अर्थव्यवस्था के सम्पादन से अलग करने मे है। इस प्रकार से उन्होने आर्थिक-व्यवहार के विश्लेषण तथा उससे सम्बन्धित नीति को आदर्शवाद से हटाकर भौतिकवाद की आधारशिला पर रखा। "अर्थशास्त्र" मे आर्थिक प्रक्रियाओ में उत्पादन को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है, और उत्पादन वृद्धि के लिये कौटिल्य आवश्यकतानुसार मान्य परम्पराओं और विश्वासो का उल्लघन करने से भी नही चूकते। समृद्धि का मुख्य स्रोत कौटिल्य के अनुसार भूमि नही परन्तु मानवीय श्रम' की मात्रा एवं स्तर तथा अर्थ-संचालन की पद्धति है। अर्थ-व्यवस्था

---

1. Needham, J Science and Civilization in China Vol. II. P, 5.

के इस पहलू को कौटिल्य ने सर्वप्रथम आगे रखा। उत्पादन के बाद समृद्धि का दूसरा स्रोत व्यापार-विशेषकर विदेश व्यापार-को माना गया है और इस क्षेत्र मे कौटिल्य ने यह स्पष्ट बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नैतिक सिद्धान्तों से सम्पादित नही हो सकता। परन्तु कौटिल्य यह जानते थे कि व्यक्तिगत लाभ से प्रेरित उत्पादक इस विचारधारा का अनुचित लाभ उठा सकते है। इसलिए उन्होंने एक नियंत्रित अर्थव्यवस्था की परिकल्पना की है, जिसमे राष्ट्र के महत्त्व-पूर्ण क्षेत्रों का संचालन राज्य द्वारा हो और अन्य क्षेत्रों मे भी समुचित राजकीय निरीक्षण एवं नियन्त्रण की व्यवस्था हो।

———

अध्याय 3

# वेदोत्तरकालीन विचारधारा

# वेदोत्तरकालीन विचारधारा

प्रस्तुत अध्याय मे जिस युग की विचारधारा का वर्णन किया जा रहा है, भारतीय इतिहास मे उसे राजनीतिक अस्थिरता का युग कहा जा सकता है। लगभग 184 ई० पू० मे मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ और शुग वंश ने देश पर अधिकार जमाया। यह वंश अल्प अवधि ही मे समाप्त हो चला और इसके पश्चात् कुषाण वंश ने लगभग 200 वर्षो तक राज्य किया। तदुपरान्त गुप्त वंश ने राज्यसत्ता सभाली और लगभग 300 वर्षों तक अनवरत राज्य किया। गुप्त वश के बाद हर्षवर्धन ही एक मात्र उल्लेखनीय सम्राट थे, जिनका साम्राज्य विस्तृत था। दसवी शताब्दी के लगभग एकछत्र साम्राज्य की भावना कल्पना मात्र ही रह गई। मौर्योत्तरकालीन भारत मे जनसख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी, कुटीर उद्योगो का विकास अवश्य हुआ पर दीर्घ आकार के उद्योगो का प्रायः अभाव ही रहा। भूमि की अपेक्षाकृत दुर्लभता का आभास हमें व्यक्तिगत अधिकार की प्रथा के अभ्युदय से प्राप्त होता है। उत्पादन-विधि मे कोई उन्नति हुई नही प्रतीत होती। राज्य भी शनैः शनै. अर्थव्यवस्था के प्रति तटस्थ होता गया क्योकि राजनीतिक अस्थिरता के कारण इस युग में शासको को अपने सिंहासन की सुरक्षा सम्बन्धी कार्यो में ही अधिक तल्लीन रहना पड़ता था। आर्थिक रूप से अवनत होते हुए भी गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहे जाने की प्रथा का एकमात्र आधार प्रो० कौशाम्बी के मतानुसार यह है कि इस काल के सोने के सिक्के काफी बड़ी संख्या मे पाये गये है।[1] उनका मत है कि राज्य द्वारा प्रोत्साहित सामन्तवादी प्रथा के परिणाम-स्वरूप इस युग मे जो अर्थ व्यवस्था उभरी थी, उसमे दो भिन्न प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है। प्रथम, थोड़े से बन्दर-

1. Koshambi, D.D., An Introduction to the Study of Indian History, Bombay, 1956, Chapter 9.

गाहों एवं राजधानियों मे धन का केन्द्रित होना और बड़े-बडे पुरातन नगरों का पतन। चीनी यात्री हुवेनसांग का भारतीय समृद्धि का वर्णन इन्ही राजधानियों के पर्यटन पर आधारित है और इस पर आधारित ऐतिहासिक वर्णन जो हमे प्राप्त होता है, "वह भारत की तत्कालीन स्थिति का सही चित्रण नहीं कर पाता।

सामाजिक क्षेत्र मे भी जो सूक्ष्म प्रायः तथ्य प्राप्त होते है, उनके आधार पर प्रगति के चिह्न कम ही दृष्टिगोचर होते है। कुछ दुर्भाग्यपूर्ण संस्कार, जिनका पहले ब्राह्मणवाद मे कोई स्थान नही था, स्थापित हो गये। हिन्दू समाज का अभिशाप 'सती' प्रथा इसी युग की देन है जो कि आंशिक रूप से स्त्रियों की दयनीय स्थिति एवं आर्थिक अरक्षा की द्योतक है। हर्ष की माता यशोमति पति की सम्भावित मृत्यु के आधार पर ही सती हो गयी। कौटिल्य ने मानव मांस के क्रय-विक्रय पर मृत्युदण्ड का विधान बनाया था पर हर्ष के पिता को किसी भयानक बीमारी से बचाने के असफल प्रयास मे दरबारी लोगों द्वारा अपना मास काटने व बेचने जैसे अमानुषिक उदाहरण हमे वर्द्धन-काल मे प्राप्त होते है।[1] दासों की असीम विवशता को परम स्वामिभक्ति के आदर्श के रूप मे प्रस्तुत करना भारतीय आत्मश्लाघा की परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है।

संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि इस युग मे भारत की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक अवस्था पतनोन्मुख थी। ये परिस्थितियाँ किस सीमा तक तत्कालीन विचारधाराओं मे प्रति-ध्वनित हुईं, इन दोनो के विस्तृत अध्ययन से ही ज्ञात हो सकती है। यहाँ पर हम संक्षेप में ही तत्कालीन सामान्य आर्थिक एवं सामाजिक संस्थाओं का उल्लेख कर, इस काल की मुख्य आर्थिक विचारधारा का ही विवरण प्रस्तुत करने में समर्थ है।

## अर्थ-व्यवस्था

सदैव की भाँति, इस काल की भारतीय अर्थ-व्यवस्था ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था थी और कृषि मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि भारतीय अर्थ-व्यवस्था का यह प्रारूप प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है, पर जो नगर ई० पू० काल मे स्थापित होकर पहली सदी तक सम्पन्न अवस्था मे पहुँच चुके थे, उनका तीसरी सदी के लगभग अधोपतन प्रारम्भ हो चुका था और अर्थ-व्यवस्था की ग्राम प्रधानता की प्रवृत्ति तीव्रतर हो गई। कृषि एवं निवास के लिए भूमि की माँग में निरन्तर

---

1. हर्ष चरित, 153, 199, 244

वृद्धि के फलस्वरूप गुप्तकाल मे भूमि को बंजर एवं धान्यहीन छोडने के विरुद्ध विचार उभड़ने लगे[1]। ऋषियों एवं तपस्वियो को भी अपनी जोविका के लिए कृषि कार्य करना होता था। रघुवंश (कालिदास) मे राजा रघु कौत्स ऋषि से पूछते है, कि जिस नीवार धान्य से आप लोग अतिथियो का सत्कार करते हैं और जिसके आधार पर आप लोग जीते हैं, उन्हें समीपवर्ती गाँवों के पशु तो आकार चर नही जाते[2]। भूमि की महत्ता स्वाभाविक थी। सर्व प्रथम हर्ष काल मे हमे भूमि के स्वत्व के सम्बन्ध में वाद-विवाद प्राप्त होते है। मनु का मौलिक कथन कि भूमि उसी प्रकार विजेता है जिस प्रकार हिरन प्रथम वर्धक का है[3], इस काल में प्रभावहीन हो गया। यह कथन अस्थायी अधिकार मात्र के लिए ही माना जाने लगा[4] और भूमि पर स्थायी अधिकार के लिए प्रमाणों-उदाहरणार्थ 'आगमेन विशुद्ध धन' (याज्ञवल्क्य) 'सागम' (वृहस्पति) की व्यवस्था होने लगी। भूमि पर तीस साल तक के निर्विरोध अधिकार के पश्चात नारद एवं वृहस्पति ने अधिकारी को स्वत्व प्रदान करने की संस्तुति की हैं।

भूमि के व्यक्तिगत अधिकार के साथ जिस नयी आर्थिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक पद्धति का उद्‌भव हुआ वह थी राज्य सम्पादित सामन्तशाही[5]। सामन्तवाद के स्रोत थे, पराजित स्थानीय शासक एवं दान भाजन पुरोहित। सामान्तशाही के अन्तर्गत राजनीतिक प्रशासन का आधार भूमि तथा आर्थिक आधार भूमिपतियो और कृषको के दो विभिन्न वर्गो के अस्तित्व में पाया जाता है। मौर्योत्तर कालीन भारत में इस प्रथा को होना सर्वमान्य है। राजा अपने अधीन प्रमुखो व सामान्तो से कर लेता था। पर ये सामान्त या प्रमुख तब तक

---

1. Maity, S.K. Economic Life of the Northern India in the Gupta period, Calcutta, 1957, pp. 12. 1971-72
2. "नीवार पाकादि कडगरीयैं रामृश्यते जान पदैन कच्चियत्।
   कालोप पन्नातितिथि कल्प भाँग बन्यं शरीरस्थिति साधनवं: ॥"
3. मनुस्मृति 5-9।
4. Vinogradoff : Jurisprudence, London, Vol. I, 1941, pp. 32 4-25.
5. प्रो० कोशाम्बी इसे Feudalim from Above कहते है।
   भारतीय सामान्तवाद की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए
   Indian Feudalism . C 300-1200, Calcutta, 1965.

अपनी सीमा में स्वतन्त्र थे जब तक कि वे राजा को नियमित रूप से कर देते रहे। सामान्तशाही का पूर्ण विकास गुप्त काल मे दृष्टिगोचर होता है जब कि यह भावना जोर पकड़ गयी थी कि भूमि उन लोगों के आनन्द उपभोग के लिए है जो इसके स्वामी तथा शासक है। शूद्र वर्ग के लिए वेदोत्तरकालीन ग्रन्थों मे यही कहा गया है कि उनका कर्तव्य तीन उच्च वर्णो की सेवा करना मात्र है[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे, सामन्त तथा स्थानीय शासक, स्थानीय प्रमुख या पुरोहित ये भूमि का प्रशासन प्रत्यक्ष ढंग से करते थे। इनके और कृषक के बीच भूमि स्वामी वर्ग नही था। धीरे-धीरे यह स्थिति बदल गई और बाद के काल मे सामान्तशाही का प्रसार राज्य की ओर से न होकर, ग्राम की ओर से हुआ[2]। ग्राम के कुछ भूपति-जमीदार राज्य और कृषकों के बीच मध्यस्थ बन कर आ गये। प्रो० शर्मा का कथन है कि कभी-कभी गाँवों से राजा एवं कृषक के बीच चार-चार मध्यस्थों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते है[3]। चाहे किसी भी रूप मे हो, प्रशासन की शक्ति का आधार भूमि सदैव रही और भारत में सामान्तशाही प्रथा काफी समय तक रही इसका उल्लेख हमे कई इतिहासकारो[4] के कथनों मे स्पष्ट मिलता है। प्रो० वैशम का कहना है कि यदि सामान्तशाही एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था है जिसमें राजनीतिक शक्ति मुख्यतया उन लोगों के हाथ मे रहती है जो भूमि पर अधिकार रखते है, तो भारत मे यह व्यवस्था अवश्य रही और यह भी सत्य है कि पहले यह प्रथा राज्य की ओर से विकेन्द्रीकरण के रूप में आई जब कि हारे हुए राजा और प्रमुख अपने क्षेत्र मे सामन्त बन गये और बाद में स्थिति बदल गई और सामान्तशाही भूमि के स्वामित्व से संलग्न हो गयी।

औद्योगिक क्षेत्र मे यह काल उन्नत नहीं कहा जा सकता पर उद्योग धन्धों का पूर्णरूप से लोप भी नही हुआ था। ग्रामीण उद्योग तो सम्भवतः इस काल

---

1. Ibid p. 16
2. प्रो० कोशाम्बी इसे Feudalism from Below कहते है।
3. Sharma, op. cit.
4. Basham, A.L., The wonder that was India, London 1954, p. 93; Pran Nath, A Study in Economic Conditions p. 188 ff; Dutta : Studies in Indian Social Polity Vol. II p. 138 ff

में पर्याप्त उन्नति कर चुके थे। अधिकतर उत्पादन लघु उद्योगों के ही द्वारा होता था और लगता है, कौटिल्य के समय मे जो कुछ बड़े पैमाने के उद्योगों का आभास मिलता है, उनका स्थान अब क्रमशः कुटीर उद्योगो ने ले लिया था। उद्योगो में सबसे प्रमुख सम्भवतः खनिजों का उत्पादन था। मुख्य खनिजो मे में हिरण्य (सोना), रजत (चाँदी), अयस (ताम्र), लौह, शीश एवं त्रपु थे। स्वर्ण एवं रजत का उपयोग साज सज्जा एवं आभूषणों के लिए होता था। यह सत्य है कि इस काल मे विनियोग (Investment) के बहुत अधिक सुरक्षित तथा उत्पादक अवसर न थे। इसके अलावा स्त्री जाति के लिए जो कुछ जनसंख्या का लगभग आधा भाग था, पारिवारिक बचत का एक भाग आभूपणों के रूप मे रखना वांछनीय था। हमे यह नही भूलना चाहिए कि दीर्घकाल तक स्त्रियों को परिवार का अचल सम्पत्ति मे अधिकार से वंचित ही रखा गया था। नारद ने कहा है कि स्त्रियो को दान देने अथवा सम्पत्ति वेचने का कोई अधिकार नही है। लेकिन उनको अपने आभूपणो पर पूरा अधिकार था और आभूपणो की मात्रा पर कोई प्रतिबन्ध नही था। यही वास्तव मे 'स्त्रीधन' कहा जाता था। इसलिए जितना ही अधिक स्त्री आभूपणो के रूप में विनियोग करती, उतनी ही उसकी आर्थिक स्थिति सुरक्षित थी। अल्तेकर ने ठीक ही कहा है कि प्राचीन काल मे आभूषण वास्तव मे वही स्थान रखते थे जो आज बीमा पालिसी का है। आभूषणो के रूप मे बचाये गये प्रचुर मात्रा के घन ने सहस्रो हिन्दू स्त्रियो को कुसमय के चंगुल से बचाया है[1]। इसके अलावा राजवश एवं राजभवन के पुरुप भी आभूषणो को धारण करते थे, उनके ग्रह-पात्रो का भी बहुमूल्य धातुओ के बने होने का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ कल्हण ने राजा क्षेमेन्द्र को सोने और चाँदी के थालो मे भोजन करते वर्णित किया है।[2]

चूँकि सैनिक एव सामरिक क्रियाओ का बाहुल्य था इसलिए इस काल के उद्योगो मे सैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाले उद्योगो को अर्थ-व्यवस्था मे प्रमुख स्थान था[3]। इन उद्योगो मे मुख्य स्थान लौह का था। शीशे का प्रचलन इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि दर्पण का इस काल की शृंगार सामग्री मे मुख्य स्थान था[4]।

---

1. Altekar, A. L, The position of Women in Hindu Civilization, Banares 1938, p 365.
2. राजतरगिणी 7-265.
3. नियोगी op cit p 241.
4. Maity, op cit. p. 105.

वस्त्र उद्योगों में ऊन एवं रेशम का प्रमुख स्थान था। जहाँ एक ओर ऐसे वस्त्रों का भी उल्लेख मिलता है जिनको श्वास की वायु से सरलता से उड़ाया जा सकता है[1]। दूसरी ओर तम्बू तथा पर्दों के लिए मोटे कपड़े का भी विवरण मिलता है।

उद्योगों का संगठन एक निर्धारित विधान के अनुसार होता था। इस प्रकार के आर्थिक संगठन श्रेणी के नाम से प्रचलित थे। उत्तर गुप्त काल मे संगठनों का नाम 'गोष्ठी' भी मिलता है। वास्तव में पहले जो जाति के आधार पर संगठन बनते थे, वे श्रेणी कहलाते थे। पर उत्तर गुप्त काल में संगठन व्यवसायों के अनुसार बनने लगे और 'गोष्ठी' कहलाने लगे। इन संगठनों का प्रधान 'श्रेष्ठी' होता था जो पूरे सगठन के कार्य को निदेशित करता था। महतक, महर, महागनस्थ, प्रमुख एवं ज्योष्ठिन् इसके विभिन्न पदाधिकारी हुआ करते थे। इन श्रेष्ठियों और महाश्रेष्ठियो का राजा एवं दरबार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था और उन्हें दरबार मे सम्मान भी प्राप्त रहता था।

व्यापार उद्योग की एक स्वाभाविक कड़ी है अतः इस युग में व्यापारिक क्षेत्र मे भारत काफी अग्रसर रहा। मौर्य काल से ही देशी एवं विदेशी व्यापार भारतीय अर्थ-व्यवस्था का एक प्रमुख अंग रहा। दमयन्ती ने नल की खोज करते समय व्यापारियों के एक विशाल समूह को राजपथ से गुजरते देखा जिसमें इन व्यापारियों तथा उनको वस्तुओ का सजीव चित्रण मिलता है[2]। मनु ने देश के

---

1. कालिदास, रघुवंश XVI, p. 43.

2. गत्वा प्रकृष्ट मध्यान दमयन्ती शुचिस्मिता।
   ददर्शाथ महासार्थं हस्तयस्वरथ संकुलम्॥
   साब्रव्रीद वणिजः सर्वान् सार्थवाह च तं ततः।
   नव नु यास्यति सार्थोऽयमेतदा ख्यातु 'मर्हसि।
   सार्थेऽयं चेदिशाजस्य सुवाहाः सत्यदर्शिनः।
   क्षिप्रं जनपदं गता लाभाय मुनुजाल्मंज॥
   एवं प्रकारेर्वेभिदेवना क्रम्य हस्तिभिः।
   राजन् विनिहितं सर्व समृद्ध सार्थं मण्डलम्॥
   रत्नराशिविशीर्णोऽयं गृहवह्वि किं प्रथावता।
   (महाभारत वन पर्व अ० 64/65)

उन भागो का विवरण दिया है जिनके बीच व्यापार होता था[1]। महाभारत मे भी इन विभिन्न भागो का विस्तृत वर्णन मिलता है[2]। गाँव के बाजार मे वस्तुओ का कुछ भाग गाँव के उपभोग के लिए ही क्रय हो जाता था, लेकिन शेष सभी नगरो के वणिकों को दे दिया जाता था जो उसे देश के अन्य भागो मे ले जाकर विक्रय करते थे। आयात की हुई वस्तुओ का व्यापार भी इसी तरह विपरीत दिशा मे होता था। व्यापारियो को वणिक या वणिज कहा जाता था। इन वणिकों के अपने व्यवसाय एवं विनियोग के अनुसार विभिन्न नाम होते थे, उदाहरणार्थ क्रय-विक्रयिक, जिसका मुख्य व्यवसाय क्रय और विक्रय करना होता था, वाश्निक, जो अपने रुपए से व्यापार करता था, समस्थानिक जो किसी श्रेणी का सदस्य होता था आदि। कभी-कभी वणिकों के नाम, उस देश के नाम से भी सम्बन्धित रहते थे, जिनसे वे व्यापार किया करते थे, उदाहरणार्थ, गान्धार-वनिज, कश्मीर-वनिज तथा मद्र वनिज। भारत के मुख्य निर्यात मसाले, सुगन्धियो, औषधि, हीरे, मोती, पशुचर्म, वस्त्र (मुख्यतया रेशम), अफीम तथा वास्तुकला की वस्तुएँ आदि थी और मुख्य आयात वरऊ, शीशे के बर्तन, सोना, चाँदी, ताम्र तथा अन्य धातु आदि थे[3]। यूरोपीय वाणिकवादियो की भाँति ही उस समय के विद्वानो का यह विचार था कि व्यापारी विदेशी व्यापार द्वारा देश के धन में वृद्धि करते है इसलिए कामन्दक राजा को राय देते है कि उन पर विशेष कृपा रखी जाय[4]। मृच्छकटिक मे इसी प्रकार एक ऐसे युवक का प्रशसा सहित वर्णन किया गया है जिसने विदेशी व्यापार से वैभव प्राप्त किया[5]।

अर्थ-व्यवस्था की इन सामान्य प्रवृत्तियो का विश्लेषण करने के पश्चात् अब हम संक्षेप मे इस युग की सामाजिक एव आर्थिक संस्थाओ का विवरण देते[6]।

---

1. कुरुक्षेत्रं च मत्सयश्च पाचाला शूरसेनिका।
   एव ब्रह्मर्षिदेशों वैब्रह्मावर्तादनन्तरः। (मनुस्मृति 2/19)
2. महाभारत, समावर्प, अ० 38
3. Mudgal, B. S, Political Economy in Ancient India, Kanpur 1960, p. 131.
4. कामन्दकीय नीतिसार, पाँच, पृष्ठ 78-79
5. अध्याय 2, पृष्ठ 50
6. K. T. Shah, Ancient Foundation of Economics in India, Bombay, 1954, pp. 48-50

1. राज्य—राज्य पूरे समाज के शासन यंत्र का उच्चतम अंग था। राजतन्त्र होने के कारण राज्य के अधिकारों का प्रारूप अधिक शक्तिमान था। मान्यता यह थी कि प्रथम राजा की संसृति दुर्बल एवं निर्धन जनसाधारण को, बलवानों व धनिकों के अत्याचार से बचाने और हर व्यक्ति द्वारा अपने धर्म का पालन करने की व्यवस्था के लिए की गई थी। महाभारत मे ऐसे राजा का बहिष्कार करने को कहा गया है जो निर्बल का संरक्षण न कर सके। क्योंकि वह उसी प्रकार से कर्त्तव्य च्युत माना गया है जैसे कि वह गुरु जो उपदेश न देता हो, पुरोहित जो वेद न पढ़ता हो, पत्नी जो अप्रियवादिनी हो, ग्वाला जो नगर में रहना चाहता हो तथा नाई जो जंगल मे रहना चाहता है[1]। ऐसा राजा, जो (जनसाधारण का) संरक्षण नही करता भारी कर लेता हो, जो अत्याचारी हो और जो नेतृत्व न करता हो, राजा के रूप मे स्वयं कलि है, उसे जनता द्वारा मार डाला जाना चाहिए। जो राजा प्रतिज्ञा के अनुसार जनता का संरक्षण न कर सके, ऐसे राजा को पकडकर पागल कुत्ते की तरह मार डालना चाहिए[2]।

आर्थिक क्षेत्र मे राज्य के हस्तक्षेप की परम्परा भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। वास्तव मे हमें कोई ऐसा तथ्य नही प्राप्त होता जो कि निरहस्तक्षेप आर्थिक व्यवस्था की धारणा का समर्थन करता हो। इसके विपरीत हमें राजा द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के कई प्रकरण मिलते है। मनुस्मृति मे ऐसे अनेकों उद्धरण प्राप्त होते है, जो निरहस्तक्षेप अर्थ व्यवस्था के विरुद्ध पड़ते है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि सामाजिक एवं

---

1. षडेतान पुरुषो जह्यादिवान्नां नावमिवाणवे।
   अप्रवक्तारमाचार्यमनधी यानमृत्विजम् ॥
   अरक्षितारं राजानम् भार्या चाप्रियवादिनीम्।
   ग्रामकामं च गोपालं वनकाम च नापितं ॥ (महाभारत 12-57, 44, 45)
2. अरक्षितारं हर्त्तारं विलोप्तारमनायकं।
   तं वे राजकलिं हन्युः प्रजा सन्नह्य निर्घृणय ॥
   अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
   स संहत्य निहन्तत्य. श्वेय सोन्मादि अतुरः ॥
   (महाभारत 13, 61, 31, 32)

आर्थिक क्षेत्र की बुराइयो के लिए राज्य ही अन्तिम रूप से उत्तरदायी है[1] । महाभारत मे भी इस बात का विधान है कि राजा प्रजा के साथ पुत्रवत् व्यवहार करे तथा कुटिल तथा अनाचारी लोगो के प्रति कठोर नीति का पालन करे कि स्वर्ण-खान, लवण, अन्नागारों, नदियो पर आर-पार होने के स्थानों तथा हरित-झुडों पर राजा अधिकार रखे और उनका प्रबन्ध राज्य मंत्रियो के या अन्य किसी पूर्ण रूप से विश्वसनीय व्यक्ति के अधिकार मे हो[2] । इस प्रकार हमें यह ज्ञान होता है कि राजकीय तथा सैनिक दृष्टिकोण से जो उद्योग विशेष महत्त्व रखते थे वे सदा राज्य के अधिकार मे रहे और इनके अतिरिक्त अन्य सभी उद्योगों एवं व्यवसायों पर राज्य का पूरा नियन्त्रण तथा हस्तक्षेप रहता था।

2. **वर्णाश्रम धर्म**—वर्ण-व्यवस्था के अनुसार समाज चार वर्णो मे विभाजित था तथा आश्रम व्यवस्था के अनुसार उनमे से हर एक का जीवन चार मुख्य आश्रम धर्मो के लिए अवधि के अनुसार विभक्त था। ये व्यवस्थाएँ सर्वव्यापी थी और एक तरह से राज्य के संगठन से उच्च तथा अधिक प्रभावशालिनी थी। वर्ण-व्यवस्था तथा उससे उत्पन्न जाति-व्यवस्था की उचित एवं अनुचित विधि से देशी एवं विदेशी विद्वानो के द्वारा पर्याप्त आलोचना की जा चुकी है। लेकिन यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय और धर्म शास्त्रो के जाति-पाँति एवं छूआ-छूत वाले परिच्छेदो की अवहेलना कर दी जाय तो यह व्यवस्था श्रम-विभाजन के सामान्य सिद्धान्त का प्रति रूप प्रतीत होती है।

3. **व्यावसायिक संगठन**—वर्णाश्रम धर्म की पृष्ठभूमि मे व्यक्तियो एवं समूहो का श्रेणी, गण, कुल, जाति, पूग, सार्थ आदि मे उप विभाजन हो गया था। ये सगठन मुख्यतया व्यवसाय और व्यापार पर अधिक बल देते थे।

---

1. यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत कर संज्ञितम् ।
व्यवहारणं जीवन्तं राजा दृष्टं पृथग्जनम् ।।
कारकाश्छिल्पिनश्चव शूद्राश्चात्मोपजीविनः ।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः । (मनु 7/137-138) इत्यादि

2. श्रोतु चैव न्यसेद राजा प्राज्ञान सर्वार्थ दर्शनः ।
व्यवहारेषु सतत तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम् ।।
आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा ।
न्यसेहमात्यान् नृपति· स्वाप्तान् दा पुरुषान् हितान् ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व अ० 69/28-29)

इनमें से प्रत्यक्ष रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण संगठनों में हमें इस काल में श्रमिकों या दस्तकारों के संगठनों (guilds) का उल्लेख मिलता है। इनके कार्यों का विवरण आदि हम पहले अध्याय मे विस्तारपूर्वक दे चुके है। यहाँ पर यही कहना उपयुक्त होगा कि लगभग वही स्थिति गुप्त युग या उसके बाद भी रही जब तक कि इन संगठनों का अस्तित्व रहा। इस काल मे निस्सन्देह इन संगठनों का अधिकाधिक विकास होता गया[1]। मुख्यतया जिन संगठनों का विकास हुआ वे थे श्रेणी (श्रेष्ठी-व्यापारियों का संगठन) सार्थ (सार्थवाहों का संगठन), कुल (कुलिकों-दस्तकारों का संगठन) आदि। इसके अलावा आर्थिक तथा औद्योगिक संगठन मे साझेदारी (संभयसयुत्थान) का स्थान प्रमुख था। बृहस्पति एवं नारद ने साझे के संबंध में अनेक नियमों का विधान बनाया है।

4. **परिवार**—सामाजिक संगठन एवं आर्थिक समुदाय के प्रबन्ध के विभिन्न स्तरों मे परिवार आधारभूत तथा प्रारम्भिक सगठन था। परिवार या कुल या गण, व्यक्तिगत रक्त-सम्बन्धो पर आधारित सामाजिक संगठन की एक इकाई है। यद्यपि इनका अधिक महत्त्व सामाजिक संगठन के रूप मे ही स्पष्ट प्रतीत होता है पर सम्पूर्ण सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था मे भी इनका स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। 'कुल' वर्तमान अर्थ से भिन्न प्रकार का परिवार था। इसमे व्यक्तिगत भावना का महत्त्व न था, बल्कि कुल के सभी सदस्य एक ही पूर्वज के वशज के रूप मे, एक प्रकार के कार्य से, सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार से तथा सामाजिक तन्त्र मे समान स्थान के कारण, परस्पर सम्बन्धित थे। ये 'कुल' या 'परिवार' हर सदस्य के लिए विपत्ति या कष्ट के समय मे सामाजिक सुरक्षा के साधन थे और साधारणतया सदस्यो के ऊपर अनुशासन के माध्यम थे।

5. **विवाह**—परिवार का आधार प्रारम्भ से ही विवाह रहा है। परिवार एवं विवाह के फलस्वरूप अनेको सामाजिक एव आर्थिक सम्बन्धो का प्रादुर्भाव हुआ जिनमे उत्तराधिकार एवं सम्पत्ति सम्बन्ध मुख्य थे। विवाह, सर्व प्रथम 'काम' भावना का साकार रूप था 'काम' पुरुष एवं स्त्री के पारस्परिक प्राकृतिक आकर्षण को कहा जाता था[2]। पुरुष एवं स्त्री के पारस्परिक सन्तुष्टि

---

1. द्रष्टव्य, मैती, वली 'कारपोरेट इकोनामिक लाइफ' शीर्षक अध्याय।
2. स्त्रीषु जातो मनुष्याणा रमणीणा पुरुषेसु वा।
   परस्परः कृतः स्नेहः कामःइत्यभिधीयते ॥ (शार्ङ्गधर 1/6)

एवं सुख को सम्पूर्ण परिवार के सुख का आधार माना जाता था[1]।

परिवार मे स्त्रियो के स्थान का जहाँ तक सम्बन्ध है कि मनु के प्रसिद्ध कथन के अनुसार 'स्त्री स्वातन्त्र-प्राप्ति के योग्य नही है।[2] और गौतम के अनुसार 'स्त्री अपने धर्म के निर्वाह मे स्वतन्त्र नही है।[3] गीता में भी हमे स्त्रियो को निम्न कोटि में समझे जाने का उल्लेख मिलता है।[4] दूसरी ओर आर्य-परिवार मे स्वयं पुरुष भी बिना स्त्री के सहयोग तथा अनुमति के किसी भी महत्त्वपूर्ण संस्कार को सम्पूर्ण नही कर सकता। महाभारत में कहा गया है "स्त्रियो का सदैव पूजन एवं पालन होना चाहिये क्योकि जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता लोग आनन्द पाते है। वे स्त्री के रूप मे धन की देवी स्वयं लक्ष्मी है, जिनका पूजन प्रत्येक सम्पत्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को करना चाहिये। क्योकि, जब सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी का पूजन और सम्मान होता है तो वे स्वयं स्त्री रूप धारण कर लेती है।[5] मनु ने भी निम्न शब्दो में मातृ रूप मे स्त्री को सम्मानित किया है आचार्य उपाध्याय की अपेक्षा दस गुना अधिक माननीय है। पिता आचार्य से सौ गुना अधिक माननीय है। और माता-पिता से भी सहस्र गुना अधिक माननीय है।[6] इस प्रकार स्त्री का स्थान तत्कालीन भारतीय समाज मे उच्च एवं पूज्य था। परन्तु उनकी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध रहे और आभूषणों के अतिरिक्त उन्हें सम्पत्ति का अधिकार भी नही था। स्त्री को सम्पत्ति के तुल्य

---

1. सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता मम्रा भार्सा तथैव च।
   यस्मिन्नंव कुले नित्यं, कल्याणं तम वं ध्रवम् (मनुस्मृति 3/60)
2. न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति (IX-3)
3. अस्वतन्त्रता धर्म स्त्री (XVIII-3)
4. माहिपार्थ व्ययाश्रित्य चेहपि स्युः पापदोनयः।
   स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपियान्ति परागतिम्॥ (गीता 9-32)
5. पूज्या लालयितत्याश्च स्त्रियं जनाधिप्यः।
   यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥
   श्रिय एताः स्त्रिया नाम सत्कार्यो भूतिमिच्छिता।
   पात्निता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत॥
   (अनुशासन पर्व, अध्याय 46-5 और 15)
6. उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
   सहस्त्रंतु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥ (मनु 11-145)

मानने की प्रथा के उद्धरण पुराणों व महाकाव्यों में बहुलता से मिलते है।[1]

**6. सम्पति अधिकार**—जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके है, गुप्त काल तक भारत मे यह स्थिति आ चुकी थी कि जनसंख्या के विकास, भूमि की माँग में वृद्धि होने से भूमि मे व्यक्तिगत सम्पत्तिगत अधिकारी की प्रथा प्रारम्भ हो गयी थी और अधिपत्य मात्र अधिकारी को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही माना जाता था। जहाँ एक ओर हम देखते है कि हस्तक्षेप न करने की विचारधारा का भारत में प्राचीन काल से लगभग अभाव रहा वहाँ दूसरी ओर उत्पादन के साधनों में व्यक्तिगत अधिकार, उनके उपयोग, शोषण एवं क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता, प्रारम्भ से ही आर्थिक प्रक्रियाओं का मूलभूत आधार नही। उत्पादन के साधनों मे भूमि ही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण साधन थी, जिसके सम्बन्ध में सम्पति अधिकारी का प्रश्न उठता है। अधिकाश विद्वानों का यही मत है कि भूमि का स्वामित्व कृषक के ही पास था, राजा उसके उत्पादन मे से केवल एक निर्धारित अंश का अधिकारो था। बेकार या कृषि न की गई भूमि अवश्य राज्य के अधिकार मे मानी जाती थी।[2] मनु, याज्ञवल्क्य[3] एव नारद[4] ने क्षेत्रों, कूपों, तालों तथा उपवनों की सीमा का जो विवेचन दिया है उससे स्पष्ट यह प्रतीत होता है कि भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार था, नारद ने तो यहाँ तक कहा है कि राजा को गृह एवं क्षेत्रों के स्वामित्व मे हस्तक्षेप करना न्यायोचित नही है।[5] परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि भूमि के अन्तर्गत निहित खनिज आदि पर

---

1. देखिए, Sharma, R. S., Light on Early Indian Society and Economy, Chapters 3 & 4.
2. See Jayaswal, K. P. Ancient Hindu Polity, Calcutta, 1924, Kaul, P. V., History of Dharmashastras, Poona, 1941 Vol. II.
3. सीम्ना विवाद क्षेत्रस्य सामन्ता स्थविरादयः।
   गोपा सीमा कृष्णाणांश्च सर्वे च वनगोचराः॥
   (याज्ञवल्क्य स्मृति 2/154)
4. सोमामध्य तु जातानां वृक्षाणक्षिमयोद्दयो·।
   फल पुष्पं च सामान्ये क्षेत्रास्वामिषु निर्दिशत्॥ (नारद 11/13)
5. गृहक्षेत्रं च दे दृष्टे वास हेतु कुटुम्बिनाम्।
   तस्मास्तेनाक्षिपाद्राराजा भुमेरधिपतिहि सः (नारद 11/42)

राजा का पूर्ण या आंशिक स्वामित्व अवश्य था।[1] परन्तु भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की व्यवस्था का तात्पर्य यह नही कि राज्य और कृषक के बीच कोई मध्यस्थ न रहा हो। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि भूमि राज्य द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अधिकृत नही थी। यद्यपि कई विद्वानो का यह भी मत है कि भूमि पर सामूहिक या सार्वजनिक स्वामित्व था। पारिवारिक सम्पत्ति मे दायभाग एवं मिताक्षरा दोनों प्रकार की व्यवस्था प्रचलित थी और इनके अनुसार सम्पत्ति का उत्तराधिकार अनुशासित होता था।

7. **दास प्रथा**[2]—सभी प्राचीन समाजो के समान, प्राचीन भारतीय समाज मे भी दास प्रथा का प्रचलन था। पर भारतीय समाज मे यह प्रथा गृह कार्य को सम्पन्न करने हेतु रखे गये थोड़े से दासो तक ही सीमित थी। पाश्चात्य देशो की भांति हमे खानो एवं बागानो में दासो के लगाये जाने का उल्लेख भारतवर्ष मे नही मिलता और न ही दासो के प्रति किसी प्रकार के दुर्व्यवहार का ही कोई प्रमाण मिलता है।[3] तथापि हमे धर्म शास्त्रो में दासो एवं उनके कर्तव्यों का सविस्तार विवरण मिलता है। प्रो० आयगर[4] का कथन है कि भारतीय दास प्रथा का विशिष्ट आर्थिक गुण यह था कि दास कुटुम्ब के ही एक सदस्य के रूप मे माना जाता था और उससे कोई हेय कार्य करने को बाध्य नही किया जाता था। भारतीय दास एक प्रकार से वंशगत सेवक था न कि पाश्चात्य अर्थ मे 'दास'। इससे यह स्पष्ट होता है कि दासता जन्म से प्राप्त होती थी। दासों की सन्तान स्वामी की सन्तानो की दास होती थी। स्वामी का परिवर्तन दासो के विक्रय या दान से हो सम्भव था। मनु[5] के अनुसार दासत्व के सात स्रोत है, युद्ध मे पराजय,

1. निधीनां तु-पुराणतनां धातूनामंव च क्षितोः।
   अर्धभाग्रक्षणादाजा भूमेरधिपति हिसः॥ (मनु 8/39)
2. विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए देव राज चनना Slavery in Ancient India, New Delhi, 1960.
   आर० एस० शर्मा Indian Feudalism : C. 300-1200 Calcutta 1965; Light on Early Indian Society and Economy, Chapter V. तथा कौशाम्बी, उद्धृत ग्रन्थ।
3. Cambridge : History of India, Delhi 1951, p. 205
4. Aiyangar, K. V. R., Ancient Indian Economic Thought Banaras, 1934 pp. 54-55
5. मनुस्मृति-7, 415

लोभ या भक्ति, दासी पुत्रत्व, क्रय, दान, वंश-उत्तराधिकार एवं अभियोग-दण्ड। दासों को सम्पत्ति का अधिकार नही प्राप्त था। परन्तु सम्पत्ति का अधिकार तो पत्नी को या पिता के रहते पुत्र की भी नही प्राप्त[1] था।

8—**द्राव्यिक अर्थ-व्यवस्था**—कुछ पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि भारत में द्रव्य एवं द्राव्यिक अर्थ-व्यवस्था का प्रादुर्भाव विदेशी व्यापार से उत्पन्न भुगतान संबंधी समस्याओं के कारण हुआ। पर हम देखते है कि वैदिक काल से ही प्राचीन भारत मे द्रव्य के विभिन्न रूपों का उल्लेख बराबर मिलता है। हमे पारिश्रमिक तथा पण्यों का उल्लेख द्राव्यिक इकाइयो के रूप मे मिलता है। निःसन्देह विभिन्न राजाओं द्वारा विभिन्न कालों एवं स्थानों पर विभिन्न प्रकार की द्राव्यिक इकाइयों का प्रचलन हुआ। पर यह सत्य है कि भारतीय अर्थ-व्यस्था काफी प्रचीन काल से द्राव्यिक अर्थ-व्यवस्था के रूप मे रही। नारद[2] के अनुसार विभिन्न मान की द्राव्यिक इकाइयाँ, क्रमशः (छोट से बडी) काकणी माश या पल या पण, कार्षापण, अनिन्दा धानक तथा सुवर्ण, बृहस्पति[4] के अनुसार क्रमशः कार्षापण, पण या अण्डिक, धानक, सुवर्ण एवं निष्क तथा मनु[3] के अनुसार क्रमशः कृष्णल, माश, सुवर्ण निष्क एवं धरण थे। द्रव्य एवं चलन की इतनी विस्तृत व्यवस्था होने पर भी भारतीय अर्थ-व्यवस्था धन संचय की ओर प्रवृत्त न होकर तब भी उपभोग प्रधान ही रही और द्रव्य को प्रधान स्थान नही मिल पाया। द्रव्य केवल एक सुविधाजनक माध्यम के ही रूप मे मुख्यतया कार्य करता था, उसके संचय एव उत्पान संबधी कार्य गौण थे।

**विषय स्रोत**—हम पहले ही कह चुके है कि इस पूरी अवधि मे 'अर्थशास्त्र' की भाँति कोई ऐसा ग्रन्थ नही है, जिससे प्रस्तुत उद्देश्य के लिए पर्याप्त सामग्री मिल सके। अतः हमें आर्थिक विचारों सम्बन्धी सामग्री के लिए धार्मिक, साहित्यिक तथा नीति सम्बन्धी ग्रन्थों का ही आश्रय लेना पड़ता है। इनमें मुख्य स्रोतों को हम निम्नलिखित रूप मे वर्गीकृत कर सकते है:

---

1. भार्या पुत्रच दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृतः।
   यते समधिर्गच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥
   (मनुस्मृति)
2. नारद Appendix 56-60,
3. बृहस्पति VIII, 9-10.
4. मनु VIII, 134-35.

1—**धर्म-शास्त्र**—उपनिषद एवं पुराण (लेखन काल 300 ई० से 900 ई० तक)।

2—**नीतिशास्त्र**—मनुस्मृति (प्रथम शताब्दी ई० पू०—प्रथम शताब्दी ईसवी) याज्ञवल्क्य-स्मृति (तृतीय शताब्दी ईसवी के लगभग), नारद-स्मृति (चतुर्थ शताब्दी ईसवी), बृहस्पति-स्मृति (चतुर्थ शताब्दी ईसवी), कात्यायन-स्मृति (लगभग तृतीय शताब्दी ईसवी)।

3—**काव्य**—रामायण (400 से 200 ई० पू०), महाभारत (500 ई० पू०—400 ई० पू०), कालिदास (प्रथम शताब्दी ई० पू०), शूद्रक (छठी शताब्दी ई० पू०), बाणभट्ट (नवी शताब्दी ई०)।

नि सन्देह वैदिककालीन भारत के सुदृढ़ आदर्शवाद के पश्चात् चाणक्य ने विद्वज्जनो एवं शासकों का ध्यान भौतिकवाद की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया था, पर फिर उसके बाद 'भौतिकवाद' को आसुरदर्शन तथा आदर्शवाद को दैवदर्शन मानने की प्रथा फिर से चल पड़ी। छान्दोग्य[1] उपनिषद् में इन्द्र और विरोचन के प्रजापति के पास शिक्षा ग्रहण करने जाने तथा उन दोनो को क्रमशः देवो के प्रतिनिधि के रूप में आदर्शवाद और असुरों के प्रतिनिधि के रूप में भौतिकवाद की शिक्षा दिये जाने की कथा इस विचारधारा का स्पष्ट प्रमाण है। यही विचार फिर एतरेय ब्राह्मण,[2] मैत्रेयी उपनिषद्[3] एवं विष्णु पुराण[4] मे भी मिलते है। यही कारण है कि हमे इस काल में अर्थप्रधान ग्रन्थों का सर्वथा अभाव मिलता है, जहाँ कही भी भौतिकवाद का उल्लेख मिलता है, वह चार्वाक तथा चाणक्य की विचारधारा एवं लोकायत के विचारो का खण्डन करने के सन्दर्भ में ही मिलता है।

## अर्थशास्त्र की धारणा

'अर्थ एव प्रधानं इति कौटिल्य' की विचारधारा की प्रतिक्रिया मे पक्ष और विपक्ष दोनो ओर से विचारो का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य से लगभग सात शताब्दी पश्चात् नीतिकार उनकी विचारधारा से सहमत प्रतीत होते है और उसे

---

1. आठ 7, 15
2. दो 42, 5।
3. सात 1, 10।
4. तीन 18, 14, 26

नन्द वंश की समाप्ति तथा चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक का श्रेय देते हुए प्रशंसित करते हैं[1]। दण्डी ने अपने 'दशकुमार-चरित' में भी कौटिल्य की प्रशंसा की है। शुक और विदुर भी बहुत कुछ इसी विचारधारा के माने जा सकते है। यद्यपि धर्म और अर्थ के सापेक्षिक महत्त्व पर कौटिल्य और शुक्र में भारी मतभेद है।

दूसरी ओर कौटिल्य की अर्थप्रधान विचारधारा के विरुद्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनेक उल्लेख धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों में मिलते है। यहाँ तक कि काव्य भी इस प्रकार के विचारों से भरे है। बाणभट्ट[2] निम्न शब्दों में कौटिल्य के विचारों की निन्दा करते है।

"क्या ऐसे व्यक्तियों के लिए कोई औचित्य-अनौचित्य का महत्त्व है, जो कि क्रूर तथा निर्दयी धारणाओं से भरपूर कौटलीय अर्थशास्त्र को प्रामाणिक आदर्श मानते है, जिनके गुरु सदैव तांत्रिक विद्या के कारण कठोरहृदय हो गये हैं, जिनके लिये दूसरों को सदैव धोखा देने वाले मन्त्री ही उपदेशक हैं, जिनकी सहस्रों राजाओं द्वारा प्राप्त और फिर त्यक्त लक्ष्मी पर आसक्ति है, जो विनाशकारी विज्ञान के उपयोग में लगे हुए है और जिनके लिए प्रिय बान्धव ही हत्या के उचित पात्र है।"

इस प्रकार कौटिल्य के पश्चात् विचारधारा ने स्पष्टतः धर्मप्रधान मोड ले लिया। पुरुषार्थो के सापेक्षिक महत्त्व के सम्बन्ध में अर्थ सदैव धर्म से गौण रहा[3]

---

1. यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्द पर्वतः। एकाकी मन्त्रशक्त्या: यः युक्त्या शक्ति-धरोपमः। आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्। कामन्दक नीतिसार एक 4-5।
2. किं वा तेषां सांप्रतं येषामतिनृशंस प्रायोपदेश निर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणं, अभिचार क्रिया क्रूरकप्रकृतयः पुरोधसो गुरवः, पराभिसंधानपरा मन्त्रिण उपदेष्टारः नरपतिसहस्र भुक्तोज्झिताया लक्ष्म्यामासक्तिः मारणात्मकेषु शास्त्रेष्वभियोग सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ता भ्रातर उच्छेद्याः।

   (कादम्बरी परि० 108)
3. उदाहरणार्थ :

   स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यहारतः।<br>अर्थशास्त्रस्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः॥ (यज्ञवल्क्य दो, 21)

   यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः।<br>अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत्॥ (नारद एक, 1, 39)

और कौटिल्य के कथन 'अर्थमूलौ हि धर्मार्थकामौ इति' का महत्त्व लगभग लुप्त-सा प्रतीत होता है। मनु[1] का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को धर्म, अर्थ एवं काम तीनों की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए पर यदि कभी अर्थ और काम धर्म के साथ स्पर्धा करते है तो अर्थ या काम मे से किसी को त्याग देना चाहिए। उनका कथन है कि हर काम का अन्त कोई न कोई निर्दिष्ट हित होता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह क्षुधा, पिपासा एवं यौन आदि सामान्य तथा निम्न श्रेणी की आवश्यकताओ की पूर्ति के पीछे भागता है। पर अधिक बल उनकी तृप्ति पर न देकर उनके कम करने पर देना चाहिए[2]। वात्स्यायन के अनुसार धर्म, अर्थ एव काम मे क्रमशः पूर्व पर से श्रेष्ठतर है पर राजा के लिए अर्थ ही उच्चतम उद्देश्य होना चाहिए।[3]

परन्तु यद्यपि 'अर्थ' धर्म की अपेक्षा गौण उद्देश्य के रूप में माना जाता था, पर उसका महत्त्व मानव जीवन के लिए किसी प्रकार कम नही समझा जाता था। कुछ लोगों का यह विश्वास कि भारतीय मस्तिष्क ने प्रारम्भ से ही भौतिक समृद्धि की ओर से बिल्कुल मुख मोड लिया था, सत्य नही माना जा सकता। महाभारत के शान्ति पर्व मे अर्जुन मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये धन की महत्ता का वर्णन निम्न शब्दों में करते है। 'जो व्यक्ति सदैव संन्यासी जीवन

---

त्रिवर्गयुक्तः प्राज्ञानामारम्भे भरतर्षभ।
धर्मार्थविनिरुध्यन्ते त्रिवर्गासम्भवे नरा.॥
कामार्थो लिप्समानस्तु धर्ममेवादिकश्चरेत्।
नहि धर्मादिपेत्यर्थः कामो वापि कदाचन॥

(महाभारत उद्योगपर्व 124, 38, 39)

1. धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्मस्य च। अर्थ सेवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थिति. (मनु० दो, 224) परित्यजेदर्थकामौ यौ स्याता धर्मवर्जितौ॥ (मनु० चार, 176)

2. यहाँ पर यह प्रतीत होता है कि यही भारतीय आर्थिक विचारो की परम्परा का मूलभूत आधार है जिसका प्रतिनिधित्व आज प्रो० जे० के० मेहता करते है जो कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य आवश्यकताओं का न्यूनीकरण मानते है।

3. तेषां समवाये पूर्व : पूर्वो गरीयान् अर्थश्च राज्ञ.

(कामसूत्र एक, 214, 215)

व्यतीत करता है वह अपने किसी भी कार्य के द्वारा संसार की भोग्य वस्तुओं का आनन्द नही उठा सकता। जिसे हम धन कहते हैं, वह पूर्णरूप से धर्म पर निर्भर रहता है। जो दूसरों का धन चुराता है वह धर्म की चोरी करता है। दरिद्रता पाप है। हर प्रकार के अच्छे कार्य धन के अधिकार से ही सम्पन्न होते हैं। धन से ही सभी धार्मिक कार्य सभी वैभव और तदनुसार स्वर्ग प्राप्त होते है। धन से धर्म की वृद्धि होती है। जिसके पास धन नहीं वह इहलोक और परलोक दोनों खो बैठता है[1]" इसी प्रकार रामायण में राम का भरत से यह प्रश्न करना कि "क्या तुम्हारे सब लोग कृषि एवं पशुपालन मे संलग्न है। वास्तव मे वार्त्ता मे संलग्न लोग सदैव सुखी रहते है"[2], इस बात का द्योतक है कि धनोपार्जन को पर्याप्त महत्ता दी जाती रही।

इस प्रकार हम देखते है कि इस काल की विचारधारा धर्मप्रधान होते हुए भी अर्थ की महत्ता की अवहेलना नही करती है। अर्थशास्त्र का अध्ययन एवं व्यवहार जीवन के कर्त्तव्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वार्त्ता अर्थात् कृषि और पशुपालन एवं वाणिज्य जीवन के प्रमुख अगों मे से एक था और विद्याओं मे भी उसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। पर अर्थशास्त्र की धारणा वार्त्ता तक ही सीमित न थी, इसका क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत था। यह कहा जा सकता है अर्थशास्त्र वार्त्ता, दण्डनीति, प्रशासन एवं राज्यशास्त्र का समन्वय था। शायद

---

1. योवाजीविशेदेर्क्षं कर्मणा नैव कस्यचित्।
   समारम्भान् बुभूषेत हृतस्वस्तिरकिंचन॥ — बारह 8,6
   यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्तते॥ — बारह 8,12
   धर्मं स हरते तथ्य धनं हरति यस्य यः — बारह 8,13
   ............दारिद्र्यं पातकं लोके........ — बारह 8,14
   अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः।
   क्रियाः सर्व प्रवर्तन्ते............ — बारह 8,16
   अर्थाद्धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिपः — बारह 8,17
   धनाद्धर्म प्रवर्धते।
   नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः — बारह 8,22
2. कच्चित्ते दयिता सर्वे कृषि गोरक्षजीविनः।
   वार्त्तायां संश्रितस्तात् लोको हि सुखमेधते।
   वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड अध्याय 100, श्लोक 47

इसीलिये राजा के लिए इसका अध्ययन आवश्यक माना जाता था। अतः हम इस काल की "अर्थशास्त्र" की धारणा को मध्ययुगीन यूरोपीय अर्थशास्त्र की ही भाँति न्यायशास्त्र, राज्यशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का समन्वय कह सकते हैं।

यहाँ पर 'धन' (अर्थशास्त्र के मुख्य विषय) के संबध मे कुछ शब्द कहना सन्दर्भरहित न होगा। धन की धारणा एवं उसके संचय की विभिन्न विधियाँ प्राचीन विचारको द्वारा वर्णित की गई है। महाभारत मे धन का जो अर्थ व्यास द्वारा दिया गया है, वह दुर्योधन तथा युधिष्ठिर के द्यूत क्रीड़ा के सन्दर्भ मे है। ऐसी वस्तुएँ जो द्यूत में बाजी पर लगाई जा सकती है, जैसे मूल्यवान धातु, हीरे, हार, सुवर्ण के सिक्के (निष्क), 'अश्व', दास, हस्ति, गौ, अज, ग्राम, नगर एवं राज्य तो आते ही थे साथ ही भाई और अर्धाङ्गिनी पत्नी भी उसी धन मे सम्मिलित थे[1]। मनु ने धन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये स्थान पर भिन्न-भिन्न शब्दो का प्रयोग किया है। धन के विभिन्न प्रकारो का उल्लेख करते हुए उन्होने अर्थ, धन, स्व, वित्त, रिक्थ, द्रव्य आदि का प्रयोग किया है। मनुस्मृति के सातवें अध्याय मे यह बताया गया है कि अश्व, गज, छत्र, द्रव्य, अन्न, पशु एवं स्त्री उस व्यक्ति की सम्पत्ति है जो उन्हे जीत लेता है[2]। इस प्रकार हम देखते है कि धन की धारणा इतनी विस्तृत थी कि उसमे न केवल जड़ पदार्थ ही आते थे बल्कि चेतन प्राणियो को भी उसमे सम्मिलित किया जाता था।

धनोपार्जन की विभिन्न विधियो मे से व्यास ने मुख्यतया समुद्रयात्रा, वनयात्रा, कृषि, पशुपालन तथा सुदूरगमन का उल्लेख किया है।[3] मनु ने द्यूत क्रीड़ा आदि की आलोचना की है और धनोपार्जन की उपयुक्त विधियो को अपनाने का

---

1. महाभारत, सभापर्वणि द्यूतपर्व अ० 60, 61, 65
2. रथाश्वं हस्तिने छत्रं धान्यं पशून् स्त्रिय.।
   सर्वद्रव्याणि कुप्य च यो यज्जयति तस्य तत्॥ (मनु०7/96)
3. अर्थे च महती तृष्णा स च दु खेन लभ्यते॥
   परित्यज्य प्रियान् धनार्थ हि मे मते।
   प्रविशन्ति नरा वीरा. समुद्रमटवी तथा॥
   कृषिगोरक्षमित्येके प्रतिपद्यन्ति मानवाः।
   पुरुषा प्रेष्यतामेके निर्गच्छन्ति धनार्थिनः॥

(महाभारत, वनपर्व अ० 259)

उपदेश दिया है।[1] मनु ने सदैव धनोपार्जन मे शुद्ध व्यवहार पर बल दिया है। विदुर का कथन है कि धन सदैव न्यायोचित कार्यों से प्राप्त होता है। उनके अनुसार अवैध विधियों से धन प्राप्त करने वाले व्यक्ति को किसी विवाद मे साक्षी नही बनाया जा सकता।[2]

धनोपार्जन के उद्देश्य के सम्बन्ध मे इन विचारकों का मत है कि धन स्वयं अपने मे इष्ट नही है बल्कि एक पुरुषार्थ, अर्थ की पूर्ति के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। शुक्र के अनुसार 'धन का उपार्जन विद्या की भाँति प्रतिक्षण', बूंद-बूंद करके किया जाना चाहिये जो भी विद्या या धन की उपलब्धि का इच्छुक है उसे एक क्षण या एक कण को भी नही खोना चाहिये। धन का उपार्जन सदैव कल्याणकारी होता है यदि उसे सुशील पत्नी, पुत्र या मित्र के पालन तथा दान के लिये उपयोग में लाया जाये। इस कार्य के अलावा धन एवं दासों का क्या प्रयोजन है।[3] इस प्रकार धन का महत्त्व उसके कल्याणकारी उपयोग के लिये है। उपनिषदों मे 'हित' (कल्याण) तथा 'हिततम' (अधिकतम कल्याण) के लिए साधनों के उपयोग मे भेद किया गया है।[4] महाभारत ने अधिकतम हित की भावना को 'सत्य' कहा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इन विचारकों की हर धारणा के समान धन की धारणा मे भी अधिकतम हित का प्रयोजन निहित था।

---

1. द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत्,
राजान्तकारणेवेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥
(मनु० 9/221)

2. श्रीमंगलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् सम्प्रवर्धते।
दास्यात् तु कुरुते मूलं सयमात् प्रतितिष्ठति ॥
सामुद्रिकं वाणिजं चोरपूर्वं नेतां साक्षेत्दधिकुर्वीत ॥
(महाभारत उद्योगपर्व अ० 35)

3. क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च साधयेत्।
न त्याज्यौ तु क्षणकणौ नित्यं विद्याधनार्थिना ॥
सुभार्या पुत्रमित्रार्थ हितं नित्यं धनार्जन।
दानार्थं च विना त्वैते किं धनैश्च जनैश्च किम् ॥
(शुक्रनीतिसार तीन 174-175)

4. त्वमेव वृणीष्व यंत्वं मनुष्याय हिततम् मन्यस इति।
(कौपीतकी ब्रा० उ० तीन।)

## उत्पादन एवं व्यवसाय :

स्पष्टतया इस काल की आर्थिक विचारधारा मे उत्पादन का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान था। एक तरह से 'अर्थशास्त्र' को 'उत्पादन अर्थशास्त्र' कहा जा सकता था। धन के उपयोग के सम्बन्धों मे विचारकों ने यह तो स्पष्ट रूप से कहा कि धन का उपार्जन उपयोग के लिये किया जाना चाहिये, प्राथमिकताओ तथा प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में उन्होने कोई विस्तृत नियम या सिद्धान्तो का प्रतिपादन नही किया। इसी प्रकार वितरण की समस्या भी उत्पादन की सहायक प्रक्रिया के ही रूप मे थी अर्थात् उत्पादन क्रिया को सम्पन्न करने के लिये उत्पादन के साधनो—भूमि, श्रम एवं पूंजी के उपयोग के लिये पारिश्रमिक देना पड़ता था परन्तु वितरण को उत्पादन से स्वतन्त्र समस्या नही माना गया। विनिमय उत्पादन और उपभोग के बीच एक कडी मात्र थी। राज्य एवं आर्थिक व्यवस्था का सम्बन्ध अवश्य बहुत महत्त्वपूर्ण था और राजस्व के सिद्धात उत्पादन को बढ़ाने मात्र का ध्येय न लेकर, राज्य की सुरक्षा एव राजकुल के पालन एवं संरक्षण के उद्देश्य से अधिक प्रेरित माने गये है।

इस प्रकार, उत्पादन इस समय की आर्थिक विचारधारा का केन्द्र बिन्दु था। उत्पादन के क्षेत्र मे भी स्वभावतः कृषि को सर्वोच्च स्थान दिया गया था। अधिकाश ग्रन्थो मे अर्थशास्त्र के समीपतम अर्थ वाला कोई शब्द यदि उपयोग में लाया गया है तो वह है 'वार्त्ता' जिसे साधारणतया कृषि, वाणिज्य, तथा पशुपालन के रूप में परिभाषित किया गया है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र 'वार्त्ता' तक ही सीमित था, परन्तु जैसा कि हम कौटिल्य वाले अध्याय में बता आये है, अर्थशास्त्र का क्षेत्र वार्त्ता की अपेक्षा विस्तृत था, पर वार्त्ता अर्थशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय था। शुक्रनीति[1] एवं भागवतपुराण[2] मे द्रव्य का उधार देना भी वार्त्ता के ही अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है। देवीपुराण मे कर्मान्त (अर्थात उद्योग कार्य आदि) को भी वार्त्ता मे सम्मिलित किया गया[3] है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि वार्त्ता का

1. कुसीद कृपि वाणिज्यं गोरक्षा वार्त्तयोच्यते।
सम्पन्नो वार्त्तया साधुर्मे वृत्तेर्भयमृच्छति॥ (शुक्रनीति एक 156)
2. कृषि वाणिज्य गोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्येते।
वार्त्ताचतुर्विधं तत्र वयं, गोवृत्तयोऽनिशम्॥ (भगवतपुराण दस 24, 21)
3. पश्वादिपालनाद्देवि कृषिकर्मान्त कारणात्।
वार्त्ताया नित्ययुक्त. स्यात् पशूना चैव रक्षणे। (देवीपुराण अ० 45)

क्षेत्र क्रमशः बढ़ता चला गया और यह 'व्यावसायिक' विषयों के अध्ययन का शास्त्र[1] बन गया यद्यपि कृषि का स्थान अब भी इसमें प्रमुख था। चाहे किसी भी अर्थ,—विस्तृत या संकुचित, में इसका प्रयोग किया जाता रहा हो, वार्त्ता का महत्त्व राज्य और अर्थव्यवस्था के लिए बहुत अधिक माना जाता था। वार्त्ता के ही अनुसार सामाजिक अर्थव्यवस्था मे दो वर्गो की कार्य व्यवस्थाओं का निर्धारण होता है वैश्य एवं शूद्र। शुक्र का तो यहाँ तक कहना है कि 'ऐसा व्यक्ति जिसे वार्त्ता का उचित ज्ञान है' अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में कभी शंकाकुल नही होता चाहे वह किसी वर्ण का क्यों न हो। कामन्दक[2] का कथन है कि वार्त्ता का व्यवहार करने वाले लोगों को राज्य का विशेष संरक्षण प्राप्त होना चाहिए क्योकि वार्त्ता के बिना यह संसार जीवित ही मृत है। यही विचार हमे रामायण[3] मे भी मिलता है। याज्ञवल्क्य राजा द्वारा वार्त्ता के अध्ययन पर इसी विचार से बल[4] देते है। महाभारत में आर्थिक व्यवस्था मे वार्त्ता के महत्त्व को निम्न शब्दों मे वर्णित किया गया है। "इस संसार का मूल वार्त्ता है। जब तक राजा वार्त्ता का पालन करता है तब तक सब कुछ ठीक रहता है।"[5]

यद्यपि संकुचित अर्थ मे वार्त्ता कृषि के तुल्य है, पर जब वार्त्ता के अन्तर्गत समस्त धनोपार्जन व्यवसायों को सम्मिलित किया गया तब भी कृषि का स्थान उन सबसे सर्वोपरि ही रहा। शुक्रनीति के अनुसार कृषि व्यवसायों में सर्वोत्तम है, व्यापार एवं सेवा मध्यम है तथा भिक्षा निकृष्ट[6] है। कृषि के सर्वोत्तम होने के सम्बन्ध मे यह उल्लेख किया गया है कि इस व्यवसाय की माता सरिताएँ है।

---

1. ततः प्रादुर्बभौ तासां सिद्धिर्वार्त्ता युगे पुनः।
   वार्त्तार्थि सार्थिकाषन्यां वृत्तिस्तासा हि कामतः॥ (वायुपुराण 8, 124)
2. आयत्तरक्षणं राशि वार्त्तारक्षममाश्रिता।
   वार्त्ताच्छेदं हि लोकोऽयं श्वसन्नपि न जीवति॥
   (कामंदकनीतिसार एक 12)
3. अयोध्याकांड अध्याय 100, 48 (श्लोक पहले उद्धृत है)
4. विनीतस्त्वथ वार्त्तायां त्रय्यां च नराधिपः॥ (याज्ञवल्क्य स्मृति एक 313)
5. वार्ता मूलादयं लोकस्य तथा धार्यते सदा।
   तत्सर्व वर्तते सम्यग्यथा रक्षति भूमिपः॥ (वनपर्व 67, 35)
6. कृषिस्तु चोत्तमावृत्तिः या सरिन्मातृकामता।
   मध्यमावैश्यवृत्तिश्च शूद्र वृत्तिस्तुचाधमा॥ (शु० नी० 3/264)

यह कथन अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को फ्रेंच भौतिकवादी अर्थशास्त्रियो की याद दिलाता है जो कृषि को सर्वोत्तम तथा एकमात्र उत्पादक व्यवसाय मानते थे क्योकि इसमे प्रकृति का हाथ सबसे अधिक रहता है। लेकिन वास्तव मे भारतीय विचारको ने कृषि को अपने ग्रन्थो मे जो उच्च स्थान दिया था वह तत्कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के कृषि प्रधान होने के कारण था और साथ ही बहुत कम ऐसी आवश्यकताएँ उस समय के लोगों की ऐसी थी जिनकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि द्वारा पूर्ति न हो सकती थी।

इन विचारको ने कृषि की महत्ता बता कर अपने कार्य को समाप्त नही समझा, बल्कि कृषि के उपयुक्त संचालन हेतु उन्होने भूमि के प्रकार, कार्यविधि, वर्षा एवं जल, बीज आदि के सम्बन्ध मे भी विस्तृत रूप से अपने विचार प्रस्तुत किये। मनु ने वैदिक परम्परानुसार उर्वरा भूमि एवं उत्कृष्ट बीजो के महत्त्व पर पर्याप्त बल दिया।[1] इसी प्रकार महाभारत[2] मे युधिष्ठिर एवं यक्ष के बीच जो वार्त्तालाप है, उसमे भी कृषि के लिए अच्छे बीजों के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

कृषि की तकनीकी विधियों का जहाँ तक प्रश्न है यह तो निर्विवाद सत्य है कि बैलो द्वारा हल का खीचा जाना भारतीय कृषि का परम्परा से एक मुख्य अंग रहा है। परन्तु इस काल की कृषि विधि इस अर्थ मे आज की अपेक्षा अधिक उन्नत प्रतीत होती है कि हमारे प्राचीन विचारकों ने विस्तृत खेती के लिए ऐसे

---

1. सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं सपद्यते यथा।
यथा भार्याज्जात आर्याया सर्वसंस्कार मर्हति ॥
बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः।
बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तमेयं तु व्यवस्थितिः ॥
अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति।
अजीवमपि क्षेत्र यत्केवलं स्थडिलं भत्यवेत् ॥
यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यगा ऋषयोभवत्।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥ (मनुस्मृति 10/96,72).

2. किंस्विदावपत्ता श्रेष्ठं किं स्विन्निवपता वरम्।
वर्षभाषपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम् ॥
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत्।
(महाभारत वनपर्व अ० 313).

हलों का उल्लेख किया है जो सोलह बैलों द्वारा खीचा जाता था।[1] सम्भवतः ऐसे हल, आधुनिक ट्रैक्टरों की भाँति गहरी जुताई के लिए अत्यन्त उपयोगी रहे होंगे। डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल[2] के अनुसार इन बड़े-बड़े हलों को 'हाली' या कभी-कभी 'जित्य' कहा जाता था, जिसका अर्थ शायद यह था कि यह यंत्र कठिन से कठिन 'भूमि को जोतने के लिये (अर्थात् जोतने में) समर्थ था। किसानों का वर्गीकरण हल के स्वामित्व के अनुसार किया जाता था। उदाहरणार्थ 'अहाली', जिसके पास हल न हो, 'सुहाली' जिसके पास सुन्दर हल हो तथा दुर्हाली जिसके पास खराब हल हो। इसके अलावा महाभारत के एक श्लोक[3] में हमे यह भी ज्ञात होता है कि यह लोग दुहरी फसल उगाने के महत्त्व से भी परिचित थे। क्योंकि इसमे गेहूँ तथा यव (जौ) के साथ-साथ बोये जाने का संकेत मिलता है।

ये विचारक केवल उत्कृष्ट बीज को सुन्दर भूमि मे गहरे जोत कर बो देना मात्र ही पर्याप्त नही समझते थे, बल्कि जल एवं सिंचाई की व्यवस्था को भी आवश्यक मानते थे। आज की भाँति तब भी भारतीय कृषि मुख्यतया वर्षा पर निर्भर रहती थी, इसीलिये महाभारत में ऋषि धौम्य, युधिष्ठिर एवं उनके वनवासी साथियों को भोजन प्राप्ति के लिये इन्द्र की पूजा करने का उपदेश देते है।[4] वर्षा की अनिश्चितता के कारण नदियो से सामीप्य रखने वाली भूमि को बहुत ही उत्तम माना जाता था। मनुस्मृति के अनुसार सरस्वती और दृषद्वती

---

1. सीर भेदेः कृषिः प्रोक्तामन्वाद्यै ब्राह्मणादिषु।
ब्राह्मणैः सौशगवं चतुरस्रं यथा परैः॥ (शुक्रनीति 4/260)

2. इन्डिया ऐज़ नोन टू पाणिनि।

3. ये यावान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च।
तान् देशान् संश्रियन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते॥ (महाभारत, वनपर्व)

4. पुरा सृष्टानि भूतानि पीड्यन्ते क्षुधयाभृशम्।
ततोऽनुकम्पया तेषां सविता स्वापिता यथा॥
गत्वोत्तरायणं तेजो रसानुद्धृत्य रश्मिभिः।
दक्षिणायनमावृत्ता मही निशिवर्ते रविः॥
क्षेत्रधूते ततस्तस्मिन्नोषधीरोषधीपतिः।
दिवस्तेजः समुधृत्य जनयामास वारिणाः॥
निषिक्तश्चन्द्रतेजोभिः स्वयोनौ निर्गते रविः॥

नदियों के बीच की भूमि, जिसे 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता था, देश की उत्कृष्टतम भूमि थी।[1] महाभारत मे तीर्थयात्रा पर्व मे लगभग देश की सभी नदियों का उल्लेख मिलता है पर गंगा तथा उसके द्वारा सिंचित प्रदेश को सर्वश्रेष्ठ माना गया[2] है। इसके अतिरिक्त सिंचाई के साधनो का कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन कृषि को वर्षा की अनिश्चितता से संरक्षण प्रदान करने के लिये कृत्रिम साधनों के महत्त्व का ज्ञान हमारे इन विचारको को पूर्ण रूप से था, इसका आभास अवश्य मिलता है। महाभारत मे नारद युधिष्ठिर से पूछते है, "क्या आपके राष्ट्र में कृषि पूर्णतया वर्षा पर निर्भर है या जल से परिपूर्ण तालावों एवं कूपों का भी कही निर्माण किया गया है?"[3] इससे स्पष्ट है कि ये विचारक भली-भाँति जानते थे कि कृषि की उन्नति, वर्षा पर ही निर्भर रह कर नही हो सकती, सिंचाई के कृत्रिम साधनों का निर्माण करना अत्यावश्यक है।

इस प्रकार, हम देखते है कि शास्त्रो एवं पुराणों तथा तत्कालीन साहित्यिक लेखकों ने जिस अर्थ-व्यवस्था का रूप प्रस्तुत किया है, वह कृषिप्रधान है।

---

औषध्यः षड्सा मेध्यास्तदन्नं प्राणिना भुविः ॥
एवंमनुमवं ह्यन्नंभूतानां प्राणधारणम्।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात् तं शरणं व्रजः ॥

(महाभारत वनपर्व, अध्याय 3)

1. सरस्वतीदृषद्वत्योद्वयोर्नद्योपदन्तरम् ।
त देवनिर्मितं देशं ब्रह्मवर्त्तं प्रचक्षते ॥ (मनुस्मृति 2/17)

2. यत्र सा गोमती पुण्या रम्यादेवर्षिसेविता।
महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृपः ॥
गंगा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः।
बाहुदा च नदी यत्र नन्दा च गिरिमूर्धनि ॥
यत्र गगा महाराज स देशस्तत्तपोवनः।
सिद्धिक्षेत्रं च तज्ज्ञेय गंगातीर समाश्रितम् ॥

(म० तीर्थयात्रा पर्व अ० 85)

3. कच्चिद् राष्ट्रे तड़ागानि पूर्णानि च बृहन्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषि दैवमातृका ॥

(म० सभापर्व, अध्याय 5)

उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में कृषि ही सर्वोपरि थी। यद्यपि अन्य व्यवसायों का लोप नहीं हो गया था। यह सम्भव भी नही। पर इन विचारकों के मस्तिष्क में कृषि की प्रधानता का एक स्पष्ट-सा चित्र बना हुआ था। रामायण एवं महाभारत में हमें उद्योगों का काफी विकसित स्वरूप मिलता[1] है, जिससे व्यवसायों की तत्कालीन स्थिति का तो आभास मिलता है पर उनके सम्बन्ध मे इन विचारकों की नीति के सम्बन्ध में अधिक विवरण नहीं मिलता। निःसन्देह उद्योगों की ओर राज्य की क्या नीति होनी चाहिए, इस विषय पर इन लोगों ने बहुत कुछ कहा है। मनु के अनुसार किसी शिल्पी का हाथ उन वस्तुओं में से एक है, जिन्हे कि सदैव पवित्र माना जाना चाहिए।[2] इस प्रकार, औद्योगिक शिल्पियों को राज्य का संरक्षण एवं प्रोत्साहन उद्योगों के विकास की दिशा में महत्त्वपूर्ण माना गया है। नल ने राजा ऋतुपर्ण से अपनी जीविका की माँग केवल इसलिये इसी आधार पर की कि वे कई शिल्पों में पारंगत थे और ऋतुपर्ण ने इसी आधार पर उनकी माँग को स्वीकार भी कर लिया।[3] राज्य के संरक्षण के ही कारण उद्योग और शिल्प मुख्यतया राजधानियों में ही पनपे और यह परम्परा मौर्य से गुप्त एवं मुगलकाल तक बराबर चलती चली आई। इस प्रकार उद्योग पूरी अर्थ व्यवस्था मे उतने महत्त्वपूर्ण नही थे जितनी कृषि।

उत्पादन की कृषिप्रधान विचारधारा मे स्वभावतः भूमि एवं श्रम ही दोनों ऐसे साधन थे, जिनको कि अधिक महत्त्व दिया गया था। क्योंकि यद्यपि पूंजी तथा संगठन भी कुछ सीमा तक आवश्यक थे, पर उत्पादन की तकनीकी विधि एवं आकार को ध्यान मे रखते हुए इनका महत्त्व उत्पादन के क्षेत्र मे बहुत अधिक न था। पूंजी का लेन-देन अधिकांश अनुत्पादक कार्यो के लिये हुआ करता था और संगठन का महत्त्व सैनिक एवं नागरिक कार्यो मे जितना अधिक था उतना

---

1. Mudgal, op cit. pp. 92-93
2. नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पणये यच्च प्रसारितम् ॥ (मनु० 5/129)
3. यानि शिल्पानि लोकेऽस्मिन् यद्येवान्यांश्च दुष्करम्।  
   सर्व यतिष्ये कर्तुमृतुपर्ण भरस्व माम् ॥  
   वत बाहुम् भद्रं ते सर्वमेत करिष्यसि ॥  
   शीघ्रयाने सदाबुद्धिर्ध्रियते मे विशेषतः ॥  
   (महाभारत, वनपर्व नलोपाख्यान, अध्याय 67)
4. Aiyangar, op. cit. p. 76

आर्थिक उत्पादन के कार्यो मे नही। पिछड़ी हुई उत्पादन तकनीक तथा लघु आकार ही इन दो साधनो के तुलनात्मक कम महत्त्व के कारण थे।

भूमि के महत्त्व के बारे मे हम थोड़ा बहुत पहले कह चुके है। तथापि शुक्राचार्य इस तर्क को फ्रांसीसी भौतिकवादियो की भांति इस क्षेत्र मे अन्तिम छोर तक नही ले गये पर इस बात का हमे स्पष्ट कथन शुक्र मे मिलता है कि "भूमि सब धन का स्रोत है। वे कहते है," इसी के लिये राजाओ ने अपने जीवन की बाजी लगाई है। धन और जीवन की आकांक्षा उपभोग के लिए की जाती है। लेकिन उस मनुष्य के पास क्या है, जिसके पास धन और जीवन है, पर भूमि[1] नही है ? भूमि को इस प्रकार महत्त्व देना स्वाभाविक ही है जब कि अर्थव्यवस्था लगभग पूर्णतया कृषि-सचालित ही थी।

श्रम की महत्ता का वर्णन भी शुक्र ने बहुत बल देकर किया है, क्योकि कर्म ही सुगति और दुर्गति का कारण है। पूर्वजन्म मे किये गये कार्य भी कर्म है, भला कौन एक क्षण के लिये कर्म के बिना रह सकता है।[2] नि.सन्देह कर्मयोग या कर्म का सिद्धान्त मूलतः श्रम की महत्ता को ही लेकर चलता है और सम्भवतः इसका मूल सन्देश भी यही है, गीता के अनुसार वास्तविक 'योग' अपने कार्य की कुशलता है।[3] योगः कर्मसु कौशलम्। सस्कृत की यह सूक्ति कि 'स्वेद' के बिना 'स्वाद' नही होता एवं श्रम के बिना विश्राम नही होता[4], इसी विचारधारा की द्योतक है।

श्रम की इसी महत्ता के फलस्वरूप जनसंख्या के आधिक्य का कोई भय इस

---

1. उपभोगाय च धनं जीवितं न सुरक्षितम्।
   न रक्षिता तु भूमिर्न किं तस्य धन जीविते॥ (शुक्रनीति एक, 359, 60)
2. कर्मैव कारणं चात्र सुगति दुर्गति प्रति।
   कर्मैव प्राक्तनमपि क्षणं कि वोढ्वीस्ति चाक्रियः। (शुक्रनीति एक 37)
3. नियत कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो हि कर्मणः।
   शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ (गीता 3/8)
   कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
   लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ (गीता 3/20)
   तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्। (गीता 2/50)
4. स्वादो नैव बिना स्वेदं विश्रामो न श्रमं बिना॥

काल के विद्वानों के लिए महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय नहीं था क्योंकि वे शायद मानते थे कि हर मनुष्य एक पेट के साथ दो हाथ लेकर पैदा होता है। वे जनसंख्या मे प्राकृतिक रूप में वृद्धि होने के पक्ष मे थे न कि उसकी वृद्धि के किन्हीं साधनों को रोकने के। वास्तव में प्रजा को ही लेकर तो सब कुछ था। निःसन्देह उन्हे इस बात का अवश्य ज्ञान था कि कुछ क्षेत्रों मे धीरे-धीरे लोगों के अधिक बस जाने की समस्या हो सकती है और इसके लिये उन्होंने आन्तरिक परिवर्तनों द्वारा जनसंख्या को पुनर्वितरित करने तथा राजकीय सहायता से उपनिवेश बसाने की प्रस्तावना की। इसके अतिरिक्त उन्हें पूरे देश मे सामान्य जनाधिक्य का कोई भय नहीं था और वे जनसंख्या की वृद्धि की नीति का अनुसरण करते थे।[1]

## वणिक् अर्थशास्त्र

जैसा कि हम पहले ही बता आये है श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के साथ-साथ इस युग तक आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार का पर्याप्त विकास हो चुका था। स्वभावतः इन विचारकों का ध्यान इस ओर भी आकर्षित हुआ और उन्होंने विनिमय के नियमों, मूल्य-निर्धारण एवं सम्बन्धित विषयों पर नीति निर्धारण हेतु अपने विचार प्रकट किये। हम ये भी पहले बता आये हैं कि विक्रेय वस्तु एवं व्यापार स्थान के आधार पर व्यापारियों का विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया गया था एवं व्यापारियों के अपने विभिन्न संगठन थे। इसका तात्पर्य यह है कि व्यापार काफी नियमित तथा संगठित रूप से सम्पन्न होता था। साथ ही राज्य द्वारा कई प्रकार के विधानों के माध्यम से व्यापार का नियन्त्रण किया जाता था। व्यापारी समाज का एक महत्त्वपूर्ण एवं उत्तरदायी अंग था और उसे हर सम्भव सुविधा तथा छूट दी जाती थी। परन्तु अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने पर उसके लिये दण्ड की भी व्यवस्था थी।[2]

---

1. प्रजायै गृहमेधिनाम् (कालिदास, रघुवंश, एक)
   यात्रार्थं भोजनं येषां संतानाय च मैथुनम्।
   वाक्सत्यवचनार्थं च दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
   (महा० बारह, अ० 110, श्लोक 23)
   अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्ठाः (नारद स्मृति बारह, 19)
2. प्रकाशवंचकास्तेपां नानापण्योपजीविनः।
   प्रच्छन्नवंचकास्त्वेते ये स्तैनाशविकादियः॥ (मनस्मृति नौ, 257)

विनिमय के लिये अनेक प्रकार के नियम इन विचारकों द्वारा निर्धारित किये गये। नारद एव बृहस्पति ने विक्रेता तथा क्रेता दोनों के हितों के संरक्षण के लिये अनेक विधान बनाये। नारद के अनुसार यदि किसी वस्तु को खरीद लेने के पश्चात, क्रेता यह समझता है कि वह धोखा खा गया है तो उसी दिन उस वस्तु को उसी दशा मे वापस कर सकता है और कीमत वापस ले सकता है। यदि वह दूसरे दिन उसे वापस करना चाहे तो मूल्य का तीसवाँ भाग उसे वापस नही मिलेगा। तीसरे दिन वह पन्द्रहवाँ भाग खो बैठेगा और चौथे दिन या उसके बाद वस्तु वापस नही हो सकती। इसके अतिरिक्त क्रेता वस्तु खरीदने से पहले उसकी परीक्षा कर सकते है पर इस प्रकार परीक्षण के पश्चात् लिया गया माल फिर वापस नही किया जा सकता। परीक्षण का समय वस्तु की प्रकृति पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ दुधार, गाय के लिये तीन दिन, बोझ ढोने वाले जानवरों के लिये पाँच दिन और बहुमूल्य पत्थरों के लिये सात दिन आदि।[1]

परन्तु मनुष्यों (दासो) का परीक्षण आधे मास तक, स्त्रियो का एक मास तक, अनाज का दस दिन तथा लोहा या कपड़ों का एक दिन मे होना चाहिए[2]। इसी प्रकार के नियम बृहस्पति द्वारा भी बनाये गये है।[3] वंचना तथा बेईमानी भी प्रचलित थी। यहाँ तक कि 'ऐसा वणिक् जो बेईमान न हो, स्वर्णकार जो चोर न हो, दरबारी जो लालची न हो, बड़ी कठिनाई से मिल सकते है।[4] इसीलिये नारद ने व्यापारियों के लिये यह विधान बनाया कि वे न्यायोचित मूल्य लें जो कि वस्तु एव स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा और वंचकतापूर्ण सौदों का व्यवहार न करें[5]। मनु का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति लाभोपार्जन के उद्देश्य से किसी वर्जित वस्तु का निर्यात करता है तो वह नियमानुसार राजदण्ड का भागी होगा और उसकी सम्पत्ति राज्य द्वारा छीन ली जायेगी।[6] इससे यह स्पष्ट आभास मिलता है कि ये विचारक उन्मुक्त व्यापार के सिद्धान्त में विश्वास

---

1. नारद स्मृति नौ, 2 से 5।
2. नारद स्मृति नौ, 6,7
3. बृहस्पति स्मृति अट्ठारह, 3,4,7,9
4. मृच्छकटिक पाँच, 11,144,145
5. नारद स्मृति आठ, 11,12
6. राज्ञः प्रख्यातभांडानि प्रतिषिद्धानि यानि च।
   तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृप ।। (मनु० 8-399)

नहीं करते थे, बल्कि अर्थ तंत्र के हित में संरक्षण एवं नियन्त्रण लगाना आवश्यक समझते थे।

मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में इन विचारकों के ग्रन्थों मे उपयोगिता, दुर्लभता एवं उत्पादन व्यय के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण मिलता है। शुक्र के अनुसार (1) किसी वस्तु को प्राप्त करने को दिया गया, (द्रव्य) उसका मूल्य है। (2) वस्तुओं का मूल्य उनको उपलब्ध करने में होने वाली कठिनाई के अनुसार और (3) उनकी उपयोगिता के अनुसार निर्धारित होता है।[1] ऐसी वस्तुएँ जिनका कोई उपयोग नहीं होगा निर्मूल्य होती है, अतः किसी वस्तु का मूल्य होने के लिये उसमे उपयोगिता का होना आवश्यक है।[2] परन्तु उपयोगिता ही पर्याप्त नहीं है। वे वस्तुएँ जो दुर्लभ हैं, ऊँचा मूल्य रखती है।[3] सरकार एवं व्यापारियों के लिये मूल्य निर्धारण का विधान प्रस्तुत करते हुए शुक्र का कहना है कि मूल्य का निर्धारण देश एवं काल का विचार करते हुए करना चाहिए। प्रो० आयंगर ने तो इन कथनों के आधार पर माँग की लोच की धारणा का भी विश्लेषण किया है।[4] वास्तव में शुक्र के 'सुलभासुलभत्वात्' तथा 'अगुणता गुणसंश्रयः के आधार पर इस प्रकार की धारणा का विकास किया जा सकता है। मनु का विचार है कि हर पाँच रात्रि या कम से कम 15 दिन के बाद हर विपणीय वस्तु का मूल्य सरकार को निर्धारित करना चाहिये और ऐसे मूल्य निर्धारण मे निम्न बातो को ध्यान में रखना चाहिये। वस्तु स्रोत और निर्दिष्ट स्थान समयावधि जब तक वह भण्डार में रही है, मध्यस्थ का अपेक्षित लाभ एवं उनको प्राप्त करने में अभी तक हुआ व्यय।[5] इसी प्रकार का विचार हमे याज्ञवल्क्य में भी मिलता

---

1. येन व्ययेन संसिद्धः तद्व्यस्तस्यमूल्यकम् ॥
   सुलभासुलभत्वात् च अगुणत्व गुणसंश्रये।
   यथाकामात् पदार्थानाम् अर्थहीनाधिकं भवेत् ॥
   (शुक्रनीति दो 11,717,719)
2. न मूल्यं गुणहीनस्य व्यवहाराक्षमस्य च। (वही दो, 209)
3. रत्नभूतं तु तत् स्यात् यद्यदप्रतिमं भुवि ॥ (वही चार, दो 207)
4. आयंगर, उद्धृत ग्रंथः, पृष्ठ 72।
5. आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ।
   विचार्य सर्व पण्यानां कारयेत् क्रय-विक्रयौ ॥ (मनु आठ 401)

है[1]। शुक्राचार्य अकाल तथा खाद्यान्नो की कमी तथा तदनुसार मूल्य के बढ़ने से भली-भाँति परिचित थे और इसी स्थिति का सामना करने के लिये उन्होने खाद्यान्नों के सुरक्षित भण्डार (बफर स्टाक) की व्यवस्था की[2]। यह एक प्रकार से खाद्यान्नो की आकस्मिक कमी को पूरा करने तथा उनके मूल्यों के स्थिरीकरण की नीति थी जो आज भी मान्य एवं प्रचलित है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि विनिमय तथा व्यापार को सम्पन्न करने के लिये द्रव्य का प्रचुर रूप से उपयोग होता था। स्वर्ण एवं रजत तथा अन्य धातुओं के विभिन्न मूल्य के सिक्कों का विस्तृत विवरण हमें धर्मशास्त्रों तथा अन्य ग्रन्थों मे मिलता है। इसके अलावा माप एव तौल के सम्बन्ध में भी इन विचारको ने विभिन्न विधान प्रस्तुत किये है।

## श्रमिक विधान

जैसा कि हम पहले कह चुके है श्रम का स्थान उत्पादन के साधनो मे महत्त्व-पूर्ण था। जहाँ एक ओर इन विचारको ने श्रमिको से अधिकतम कार्य लेने तथा आलस्य या कामचोरी के अवसरो पर उन्हें दण्ड देने का विधान बनाया वहाँ दूसरी ओर श्रम को एक मानवीय साधन मानते हुए श्रमिकों के हितो तथा संरक्षण के लिये भी विधान बनाये थे। मजदूरी के सम्बन्ध में जहाँ एक ओर कार्यक्षमता तथा योग्यता पर बल दिया गया है, वही दूसरी ओर इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि यह मजदूरी श्रमिक एवं उसके परिवार का अच्छी तरह से पालन करने के लिये पर्याप्त होनी चाहिये। शुक्र के अनुसार कम मजदूरी पाने वाले श्रमिक स्वभावतः शत्रु तथा चोर हो जाते है।[3] घरेलू नौकरों के लिये शुक्राचार ने दिन में तीन घटे तथा रात्रि में नौ घटे के अवकाश की व्यवस्था

---

1. पण्यस्योपरि सस्थाप्य व्ययं पथसमुद्भवम्।
   अर्घोऽनुग्रहकृत्कार्यः क्रेतु. विक्रेतुरेव च।। (या० स्मृ० दो 253)
2. धान्याना संग्रहः कार्यो वत्सरत्रय पूर्तिद'।
   तत्काले स्वराष्ट्राय नृपेणात्महिताय च।।
   (शु० चार दो 11,50,51)
3. ये भृत्या हीनभृतिकाः शमवस्ते स्वयं कृताः।
   परस्य साधकास्ते तुच्छिद्रकोश प्रजाहराः।।
   (शुक्रनीति दो 11, 807, 8)

7

की है। पाँच वर्ष कार्य कर लेने के पश्चात् किसी सेवक को तीन महीने का वेतन बोनस के रूप मे दिया जाना चाहिये तथा अधिक दिन तक बीमार रहने पर छः महीने का वेतन दिया जाना चाहिये। एक वर्ष तक कार्य करने के बाद शुक्र ने एक पक्ष के सवेतन अवकाश की, चालीस वर्ष तक राजकीय सेवा करने के बाद वेतन का अर्धांश पेन्शन की तथा ऐसे व्यक्ति की विधवा पत्नी और अवयस्क बच्चों के लिये वेतन का अष्टांश सहायता रूप मे देने की व्यवस्था की है, जिसकी कार्यकाल में ही मृत्यु हो जाती है।[1]

मजदूरी के निर्धारण के सम्बन्ध में शुक्राचार्य ने कार्यानुसार तथा समयानुसार दोनों प्रकार की विधियों का उल्लेख किया है। समयानुसार मजदूरी दैनिक, मासिक तथा वार्षिक आधार पर दी जा सकती है। कार्यानुसार मज़दूरी श्रमिक के कार्य की गति एवं उत्पादन के आधार पर दी जाती है[2]। परन्तु मुख्य बल इस बात पर दिया गया है कि मज़दूरी श्रमिक की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त हो। इसलिये शुक्राचार्य का कथन है कि ऐसी मजदूरी जो केवल एक ही व्यक्ति की भोजन की आवश्यकताएँ सन्तुष्ट करने भर को पर्याप्त है, न्यून मज़दूरी है, जिससे एक व्यक्ति की सभी आवश्यकताएँ पूरी होती है, वह मध्यम मज़दूरी है और जिनसे पूरे परिवार की आवश्यकताएँ पूरी हो सकती है, वह श्रेष्ठ मज़दूरी है[3]। इसके अलावा यदि कार्य गुरुतर हो और इसलिये श्रमिक

---

1. भृत्यानां गृहकृत्यार्थं दिवायाम् समुत्सृजेत्।
   निशि यामत्रयं नित्यं दिन भृत्यर्धयामकम्॥
   तैभय कार्यं कारयीत ह्युत्सवाद्यैर्विना नृपः।
   'अत्यावश्यं तूत्सवेऽपि हित्वा श्राद्धि दिनं सदा॥
   पादहीना भृत्यं त्वार्ते दयात् त्रैमासिकीततः।
   पंचवत्सरभृत्येतु न्यूनाधिक्यं यथा तथा॥ आदि, आदि।
   (शुक्रनीति दो 11, 815:35)
2. वत्सरे वत्सरे वापि मासि मासि दिने दिने।
   एतावती भृतिस्तेऽहं दास्यामीति च कालिका॥
   एतावता कार्यमिदं काले नापित्वया कृतम्।
   भृतिमेतावती दास्ये कार्यकाल मिता च सा॥ (शुक्र॰ 2/390)
3. परिवारपोष्याभृत्तिः श्रेष्ठासमान्नच्छवनार्थिका।
   भवेदेकस्य भरणाय भृति सा हीन संज्ञिका ॥ (शुक्रनीति 2/389)

असन्तुष्ट होकर कोई विवाद उठाये तो इससे उनकी मजदूरी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[1] इसी प्रकार मनु के अनुसार यदि कोई श्रमिक अस्वस्थ हो और स्वस्थ हो जाने पर कार्य सम्पन्न करने लगे तो वह सदा की भाँति मजदूरी का अधिकारी होगा।[2] चाहे वह जितनी लम्बी अवधि तक ही अस्वस्थ क्यो न रहा हो। इस प्रकार इन विचारको ने प्रामाणिक मजदूरी (गारेन्टीड वेज) का विधान बनाया था।

## राज्य तथा आर्थिक व्यवस्था

राज्य द्वारा अर्थ-व्यवस्था मे हस्तक्षेप, संरक्षण, निरीक्षण तथा अधिकार के बारे मे हम पहले ही कह चुके है। यहाँ पर हम मुख्यतया राजकीय आय और व्यय के कुछ तथ्यो का संक्षिप्त विवरण देगे। हमारे विचारको के अनुसार राजकोष राजा तथा राज्य का मूल है, इसी पर पूरे राज्य की आधारशिला खड़ी है। कामन्दक, मनु, शुक्र, एवं व्यास सभी इस विचार का समर्थन करते है। महाभारत मे राजकोष की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि इस कोष का घट जाना राज्य के महान् दुर्भाग्यो मे से एक है[3]।

अर्थात् राजा की शक्ति कोष पर निर्भर है और कोष का क्षय होना शक्ति के क्षय होने के समान है। राजकोष की पूर्ति के लिए राजकीय व्यवसाय के अतिरिक्त मुख्य साधन करारोपण ही था। यद्यपि इन विचारको ने विभिन्न प्रकार के करों का विधान बनाया है पर अत्यधिक कर लगाने वाले राजा का उन्होने बहिष्कार करने की राय दी[4] है जिससे यह पता चलता है कि इन लोगो का विचार जहाँ

---

1. न कुर्याद् भृतिलोपं तु तथा भृतिविलम्बनम्।
   अवश्यपोष्यभरणा भृतिर्मध्या प्रकीर्तिता ॥ (शुक्र 2/389)
2. आर्त्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः।
   स दीर्घस्यापिकालस्य तल्लभेत्तैव वेतनम् ॥ (मनु० 8/216)
3. कोषश्च सतत रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभि ।
   कोषमूलो हि राजानः कोषो वृद्धिकरो भवेत् ॥
   राज्ञः कोषबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
   तन्मूलं सर्वधर्माणा धर्ममूला. पुनः प्रजाः ॥ (शान्तिपर्व अ० 119)
   अशंकमानो वचनमनसुयुरिदं शृणु।
   राज्ञः कोषक्षयादेव जायते बल संक्षयः ॥ (शान्तिपर्व अ० 130)
4. महाभारत शान्तिपर्व (श्लोक ऊपर उद्धृत है)

एक ओर कोष में अधिकतम द्रव्य जमा करने के पक्ष में वहाँ साथ ही जनता पर अत्यधिक कर लगाना भी वे उचित नही समझते थे। करों की बहुत-सी संख्या का अनुमान हमे महाभारत मे स्पष्ट रूप से मिलता है ।[1]

करारोपण के सम्बन्ध में हमें इन विचारकों के ग्रन्थों में न्यायसंगति तथा अधिकतम आय प्राप्ति पर बड़ा बल मिलता है। करों के अनिवार्य भुगतान होने का आभास हमे शुरू मे स्पष्ट संकेत एवं यथेष्ट रूप मे मिलता है जब वे कर की निम्न शब्दों मे परिभाषा करते हैं। 'कर' राजा को देय है क्योंकि इसका भुगतान दैविक रूप से व्यवस्थित है, क्योंकि इसका मूल मौलिक संविदा में है और क्योंकि यह राज्य द्वारा सुरक्षा प्रदान किये जाने का मूल्य है[2]। राज्य न केवल सम्पत्ति पर ही कर लगाने का अधिकारी है, बल्कि सम्पत्तिहीन को भी अपने श्रम का एक भाग कर के रूप में देना पड़ेगा[3]। इन लोगों का यह भी विचार था कि जनता द्वारा किया गया वही भुगतान 'कर' कहा जा सकता है, जिसे राजा कल्याणकारी कार्यों मे व्यय करे और विलासिता मे नष्ट न कर डाले। यह बात ऐसे कथनों से स्पष्ट होती है, जिनमे राजा को केवल अच्छे कार्यो मे व्यय करने के लिये अनुमति दी गयी है[4]। इसके अलावा हमें करारोपण के सम्बन्ध मे बार-बार गाय के दुहने या मधु एकत्रित करने की उपमाएँ मिलती

---

1. विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छद।
   योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजा कारयेत् करान् ॥
   उत्पत्ति दानवृत्ति च शिल्पं सम्प्रेक्ष्य चासकृत्।
   शिल्पं प्रतिकरानेवं शिल्पिनः प्रतिकारयेत् ॥
   (शान्तिपर्व अ० 87)

2. स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
   ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा ॥
   (शुक्रनीति एक 11, 374.76)

3. कारुकान् शिल्पिनश्चैव शूद्राश्चात्मोपजीविनः।
   एकैक कारयेत् कर्म मासिमासि महीपतिः ॥ (मनु० सात, 138)

4. काले चास्य व्ययं कुर्यात्, त्रिवर्गप्रतिपत्तये।
   (कामन्दकीय नीतिसार, 5, 86)

है[1] । इससे करारोपण के निम्न तीन सिद्धान्तो का स्पष्ट संकेत मिलता है—

(1) राजा को कर द्वारा अधिकतम आय प्राप्त करना चाहिये अर्थात् करारोपण इस प्रकार हो कि आय अधिकतम प्राप्त हो सके ।

(2) प्रत्येक व्यक्ति से कर उसकी सामर्थ्य के अनुसार लिया जाये ।

(3) कर ले लेने के पश्चात् भी करदाता की मौलिक स्थिति बनी रहे और उसके पनपने मे कोई कठिनाई न हो ।

करारोपण का मुख्य उद्देश्य जनता का कल्याण एवं संरक्षण है यह बात इससे और भी स्पष्ट हो जाती है कि इन विचारको ने कर को कभी-कभी राजा द्वारा सार्वजनिक सेवक के रूप मे किये गये कार्यो के वेतन मात्र के रूप में कहा है[2] । इस प्रकार इन विचारको से हमें कर की वह परिभाषा नही मिलती, जिससे सारे 'मूल्य के वापस होने की अनिश्चितता' को करों का एक लक्षण माना जाता है । परन्तु इनका कथन यह भी नही था कर पूर्णतया एक मूल्य है और जो व्यक्ति जिस मात्रा मे करदान करेगा उसी मात्रा मे उसे राज्य से सुविधाएँ प्राप्त होगी । इसके विपरीत उनका कथन तो यह है कि करारोपण सामर्थ्यानुसार हो पर इस बात का पूर्ण विश्वास हो कि.इन करो को सार्वजनिक कल्याण के कार्यों मे ही व्यय किया जायेगा । कोई राजकीय सेवक जिसने अवैध रूप से अधिक धन एकत्र कर लिया है, उससे कामन्दक के अनुसार न केवल इस प्रकार प्राप्त धन ही कर के रूप मे ले लेना चाहिये बल्कि उसकी मौलिक सम्पत्ति का भी अपहरण कर लेना चाहिये[3] । अन्यथा करों के स्तर को अर्थव्यवस्था की प्रगति के साथ ही धीरे-धीरे ऊपर उठाना चाहिये करों की प्रगति इतनी मन्द हो कि कर-दाताओ को इसका कम से कम आभास हो और कर देने में कम से कम कष्ट हो[4] ।

---

1. उदाहरणार्थ· मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम् ।
वत्सापेक्षी दुहेचैव स्तनाश्च विकुट्टयेत् ॥

(महाभारत, शान्तिपूर्व, अ० 87)

2. बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम् ।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥

(महाभारत बारह, अ० 71, श्लोक 10)

3. कामंदकीय नीतिसार पाँच, 85

4. यथा मधुसमादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्यः आयद्यादवि हिंसया ॥

इसके विपरीत व्यवहार करना, स्वर्ण के फल प्रदान करने वाले पेड़ को काटने के समान होगा। महाभारत की यह उक्ति कि करारोपण उचित स्थान, उचित समय एवं उचित रूप में तथा कष्टरहित विधि से किया जाये,[1] एडम स्मिथ के विचारों की भविष्यवाणी करती मालूम पड़ती है। मनु के अनुसार ऐसे लोग जिनके पास अपनी आजीविका के ही लिये पर्याप्त साधन नहीं हों, उन्हें कर से मुक्त कर देना चाहिये[2]।

पर करारोपण का उद्देश्य क्या हो? जैसा कि बता दिया गया है करों का उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण माना गया था। यह इन विचारकों द्वारा दी गई परिभाषा से ही मालूम पड़ता है। परन्तु इसके अतिरिक्त उनका यह विचार था कि व्यक्तिगत हाथों से यदि धन कर के रूप में इकट्ठा करके राज्य द्वारा संगठित एवं व्यवस्थित रूप से व्यय किया गया हो तो करदान से हुई हानि की अपेक्षा इन व्ययों से हुए लाभ कई गुना अधिक होंगे और लाभों को तथा सुखों को कई गुना करना ही राज्य के द्वारा करारोपण का ध्येय होना चाहिये। कालिदास के अनुसार राजा सूर्य के समान है जो पृथ्वी से जल कणो का शोषण करता है पर उसका केवल एक ही उद्देश्य रहता है कि उसे सहस्र गुना करके पृथ्वी को लौटा दें[3]। मनु इसी सन्दर्भ में राजा की तुलना सूर्य एवं इन्द्र से करते है। जैसे सूर्य की किरणें वर्ष के आठ महीनो मे बिन्दुओं का संचय करती रहती है पर इन्द्र चार महीने के अन्दर उसे धरती को वर्षा के रूप मे दे देते है, उसी प्रकार राजा को धीरे-धीरे करों का संचय करना चाहिये और आवश्यकता के समय उचित मात्रा मे प्रजा के लिये उनको व्यय करना चाहिये। राजा को व्यय किस प्रकार तथा किन-किन विषयों पर करना चाहिये

---

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे न यथांगारकारकः॥

1. न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपात्येत्।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि॥
(महाभारत शान्तिपर्व अ० 88)

2. अन्धो जड़ः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः।
श्रोत्रियेसूपकुर्वंश्च न दाप्या केनचिद्करम्॥ (मनु 8/394)

3. रघुवंश एक 18

इस सम्बन्ध में शुक्र का कथन उद्धरणीय है 'ग्राम की आय का बारहवाँ भाग ग्राम के प्रधान को मिलेगा, सैनिक व्यय के लिये 3/12 भाग रक्खा जायेगा, 1/24 भाग दान मे तथा 1/24 भाग जनता पर व्यय किया जायेगा। इतना ही राज्याधिकारियों तथा राजा के व्यक्तिगत व्यय के लिये दिया जायेगा। शेष कोष मे जमा रहेगा। अपनी आय को इस प्रकार छः भागों मे बाँट कर राजा को हर वर्ष का व्यय निर्धारित करना चाहिये[1] ।" इसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके है कि राजा के अपव्ययी होने पर प्रजा उसे त्याग दे सकती थी। कोष में सुरक्षित यह शेषांश प्रजा के संरक्षण एवं पालन के लिये ही रक्खा रहता था।

---

1. ग्रामस्य द्वादशांशेन ग्रामपान्सं वियोजयेत् ।
त्रिभिरबलं धार्यं दानमर्धांशकेन च ॥
अर्धांशेन प्रकृतयोरर्धांशेनाधिकारिणः ।
अर्धांशेनात्मगोत्रस्य कोषांशेन च रक्ष्यते ॥
आयस्यैवं षड्विभागैर्व्ययं कुर्यात्तु वत्सरे ॥ (शुक्रनीति एक, 315, 17)